हिंदी पत्रिकाओं में कार्टून और दृश्य-संस्कृति

1900-1940

प्रभात कुमार

> तक़रीबन सौ साल पहले कार्टूनिंग की कला हमारे यहाँ इंग्लैंड से आई और यहाँ इसने अपनी जड़ें जमा लीं। यद्यपि कला के अन्य रूप, जैसे मूर्ति-कला, नक़्क़ाशी, चित्रकला वग़ैरह भारत में शताब्दियों से फल-फूल रहे थे, लेकिन व्यंग्यचित्र कला अज्ञात थी।
>
> आर के लक्ष्मण *

आलू, मिर्च और टमाटर की तरह कार्टून भी हिंदुस्तान में युरोपियों के मार्फ़त आया और धीरे-धीरे रोज़मर्रा की अख़बारी ज़िंदगी और छपाई-संस्कृति का हिस्सा बन गया। इतिहासकारों के मतानुसार कलात्मक विधा के रूप में कार्टून को वैश्विक लोकप्रियता 19वीं सदी के मध्य में लंदन से प्रकाशित होने वाली *पंच* नामक मशहूर अंग्रेज़ी व्यंग्य-पत्रिका से मिली। इसी पत्रिका से प्रभावित होकर भारत में भी पहले ब्रिटिश और फिर जल्दी ही हिंदुस्तानियों ने 1870-80 के दशक से अंग्रेज़ी और अन्य भारतीय भाषाओं में व्यंग्य पत्रिकाओं की शुरुआत की, जिनमें कार्टून भी नियमित रूप से छपते थे।[1] तक़रीबन बींसवी सदी की शुरुआत से कार्टून हर तरह की भारतीय पत्रिकाओं के ख़ास और आकर्षक अंग बनने लगे। 1920 के बाद से कार्टून न केवल अख़बारों और पत्रिकाओं में बल्कि छोटे पोस्टर तथा

---

[*] आर के लक्ष्मण (1990) : 1.

[1] *पंच* पत्रिका का पूरा नाम *पंच, ऑर दि लंदन शारिवारी* (*याने लंदन का होहल्ला*) था. यह 19वीं सदी का सबसे ज़्यादा बिकने वाला लोकप्रिय साप्ताहिक था, राजनीतिक-सामाजिक व्यंग्य लेखों के साथ सुंदर और मारक कार्टून इसकी ख़ास पहचान थी, और इसका वितरण ब्रितानी पाठकों के दुनिया भर में फैले होने की वजह से वैश्विक था. *पंच* और कार्टूनिंग जल्दी ही एक दूसरे के पर्याय बन गए. *पंच* पत्रिका, उसकी सामग्री और उसके पाठक के शुरुआती सालों के विस्तृत इतिहास के लिए देखें, रिचर्ड डी. अल्टिक (1997). *पंच* पत्रिका की देखा-देखी युरोप और एशिया के लगभग सभी देशों की अधिकतर भाषाओं में *पंच* नाम से व्यंग्य पत्रिकाएँ आईं. अरबी, तुर्की, चीनी, जापानी, अंग्रेज़ी, हिंदी, उर्दू, मराठी, बंगाली, आदि भाषाओं के संबंध में देखें, बारबारा मित्तलेर और हंस हार्डर (सं) (2012). इसके अलावा बंबई और लखनऊ से प्रकाशित होने वाली *पारसी पंच* और *अवध पंच* के बारे में विस्तृत उद्धरण के साथ साधारण जानकारी पाने के लिए देखें, मुशीरुल हसन (2007) और (2012).

पुस्तकाकार ऐल्बम की तरह भी नियमित रूप से छपने और बिकने लगे।

इस लेख में हम हिंदी कार्टून की चर्चा एक परा-सांस्कृतिक (ट्रांसकल्चरल) कला विधा की तरह करेंगे और यह समझने की कोशिश करेंगे कि हिंदी जनपद के भिन्न सांस्कृतिक परिवेश में कार्टून जैसी नई विधा कब और कैसे पठनीय-दर्शनीय तथा प्रासंगिक बनी?[2] किन कारणों से अन्य भारतीय भाषाओं, जैसे बांग्ला, मराठी, उर्दू, वग़ैरह, के मुक़ाबले हिंदी में कार्टूनिंग की शुरुआत देर से हुई? किस तरह कार्टून, जिसे हिंदी में 'व्यंग्य-चित्र' भी कहा गया, साहित्यिक पत्रकारिता के बुनावट और उत्पादन का हिस्सा बने? हमारा मानना है कि कार्टून के तार 20वीं सदी के हिंदी जनपद में पत्रिकाओं की बदलती हुई दृश्य-संस्कृति से जुड़े हुए थे। जब पत्रिकाएँ अपनी साज-सज्जा और गठन में ख़ुद को न केवल पठनीय बल्कि दर्शनीय भी बना रही थीं, कार्टून ने सफलतापूर्वक लिखित और चित्रित के बीच में ख़ुद को स्थापित किया। हमारा यह भी मानना है कि कार्टून के व्यापक स्वागत, प्रसार तथा उसके कलात्मक-साहित्यिक दर्जे को तत्कालीन हिंदी पत्रकारिता के वाणिज्य, सौंदर्य और सुधारवादी राजनीति के त्रिकोण में रखकर समझा जा सकता है। कार्टून की प्रासंगिकता का कारण दोहरा था। यह एक ऐसा माध्यम था जो एक तरफ़ मनोरंजक होने के कारण बड़े पाठक वर्ग को आकर्षित करने की क्षमता रखता था। वहीं दूसरी तरफ़, सुधारवादी आत्म-चेतना से लैस तत्कालीन पत्रिकाओं और संपादकों के लिए यह एक ऐसा कलात्मक ज़रिया था जो अपेक्षाकृत कम जगह और शब्दों को ख़र्च करके समसामयिक सार्वजनिक बहस में तीक्ष्ण हस्तक्षेप कर सकता था। इसलिए हम कार्टून की विशेषता की चर्चा संवाद के एक ख़ास माध्यम के रूप में करेंगे और देखेंगे कि क्यों और कैसे हिंदी जनपद के स्थानीय या देशी संदर्भ में एक आयातित साहित्यिक-कलात्मक विधा का परिचय, प्रसार और उपयोग यानि उसका देशीकरण हुआ।

1

समकालीन पत्रिकाओं के शीर्षकों या स्तंभों को देखकर यह आसानी से पता चलता है कि 19वीं सदी के उत्तरार्द्ध से लगभग सभी भारतीय भाषाओं में ब्रितानी *पंच* के ढर्रे पर या तो व्यंग्य पत्रिकाएँ आईं या पत्रिकाओं में इसी नाम से व्यंग्य-स्तंभ आने लगे।

हिंदी में भी इस तरह की पहली पत्रिका *रसिक पंच* आई।[3] लेकिन अन्य भाषाओं, जैसे उर्दू, बांग्ला या मराठी के विपरीत, हिंदी में कार्टून या यूँ कहें कि कोई भी छवि काफ़ी सालों बाद छपनी

---

[2] ऐतिहासिक रूप से ऐसा देखा गया है कि किसी अन्य संस्कृति से आयातित सामान, विचार या कलात्मक विधा जब नए सांस्कृतिक परिवेश में पहुँचती है तो वह स्थानीय संस्कृति में अनूदित भी होने लगती है और तभी उपयोगी या प्रासंगिक होती है. ज़ाहिर है कि सांस्कृतिक अनुवाद की यह दीर्घसूत्री प्रक्रिया इन विचारों या विधाओं को परा-सांस्कृतिक बनाती है. लेकिन इन परा-सांस्कृतिक विचारों और विधाओं के निर्माण में हम स्थानीय अनुवाद की प्रक्रिया को सामान्यतया नज़रअंदाज़ कर देते हैं. हम आगे देखेंगे कि कार्टून को भी स्थानीय या हिंदी जनपद की संस्कृति में सचेत और अचेत दोनों तरीक़े से अनूदित किया गया. कार्टून की स्थानीय वंशावली, इसका देशी और अंतर्देशीय इतिहास लेखन जैसी अन्य लेखकीय तकनीक आदि का भी इस्तेमाल कर इसे स्थानीय सांस्कृतिक वांग्मय का जायज़ हिस्सा बनाया गया.

[3] हिंदी की आरंभिक पत्रिकाओं में प्रसिद्ध अथवा गौण, मसलन *हरिश्चंद्र मैगजीन* या खड्गविलास प्रेस से छपने वाली *क्षत्रिय पत्रिका*, लगभग सभी में *पंच* नाम से व्यंग्य-स्तंभ छपते थे. इस बारे में अधिक जानकारी के लिए देखें, बारबारा मित्तलेर और हंस हार्डर (सं.) (2012). ; प्रभात कुमार (2012) : 75-110.

चित्र 1 19वीं सदी की व्यंग्य-पत्रिकाओं के आवरण

शुरू हुई। शुरुआती हिंदी, उर्दू, बांग्ला और मराठी की व्यंग्य-पत्रिकाओं (क्रमशः *रसिक पंच*, *अवध पंच*, *बसंतक* और *हिंदू पंच*) के मुख पृष्ठ को देखकर भी हम इस बात का अंदाज़ा बख़ूबी लगा सकते हैं कि आधुनिक हिंदी नए चाल में ढलनी अभी शुरू ही हो रही थी तथा पत्रिकाएँ साज-सज्जा, रंग-रोग़न, मानकीकरण और बिक्री के दृष्टिकोण से सामान्यतया अन्य भाषाओं की तुलना में काफ़ी पीछे थी। मसलन, *रसिक पंच* (1885, लखनऊ) या अन्य समकालीन हिंदी पत्रों में चित्र और कार्टून का नदारद होना, नियमित प्रकाशन न होना, ज़्यादा दिनों तक न थमना कोई अपवाद नहीं था, बल्कि इसके पीछे आर्थिक-व्यावसायिक और सामाजिक कारण थे।

न तो हिंदी मध्य-वर्ग और पाठकों का समुचित विकास और विस्तार अभी हुआ था, न ही हिंदी-हिंदूवादी राष्ट्रवाद के वैचारिक नज़रिए को संरक्षण देने वाली प्रभावशाली साहित्यिक-राजनीतिक संस्थानों के वित्तीय और राजनीतिक शक्ति का। कार्यकर्ता क़िस्म के हिंदी संपादकों के लिए यह स्थिति आर्थिक रूप से बेहद बोझिल और राजनीतिक दृष्टि से निराशाजनक थी। ग्राहकों/पाठकों पर संपादक का ग़ुस्सा करना और फिर हताश होना आम था, एक नमूना देखिए :

> पीली पीली पगड़ी, लाल लाल गाल, मोटे-मोटे तोंदवाले सभी ईमानदार नहीं होते। जो व्यवहार के सच्चे होते हैं, वे झूठी बनावट नहीं रखते। यहाँ क्या है, हमने समझ लिया, दमड़ी की हड़िया फूटी, कुत्ते की जात पहचानी।[4]

[4] प्रतापनारायण मिश्र (1992) : 35.

हम प्रतापनारायण मिश्र जैसे लोगों द्वारा अपने ग्राहकों/ पाठकों से की गई दर्ज़नों अपीलें देख सकते हैं जो कभी ख़ुशामद, कभी निवेदन तो कभी (उपरोक्त) फटकार के रूप में निकल कर आती है : पाठक पढ़ नहीं रहा, पत्रिका को चंदा नहीं मिल रहा, संपादक घाटे में है देशहित के लिए! यहाँ ग़ौरतलब ये है कि हिंदी ग्राहक/पाठक मूलतः ग़ैरहाज़िर है – यानि राष्ट्र निर्माण के घटक, राष्ट्रवादी पाठक वर्ग, पूर्व-मौजूद नहीं थे, बल्कि उन्हें तैयार करना था! जो भी हो, सचित्र पत्रिकाएँ, जिनके लिए बड़ी संपादकीय टीम और अधिक आर्थिक पूँजी की दरकार होती, ऐसी फटेहाल स्थिति में निकल नहीं सकती थीं।

कुछ दशकों के राजनीतिक प्रयास के बाद, 20वीं सदी के आरंभ से, राजनीतिक परिस्थितियाँ जिस तेज़ी से बदलने लगीं और इसका असर पत्रिका की आर्थिक सेहत और फलतः कंटेंट की विविधता, बनावट और सजावट पर भी बख़ूबी हुआ। नई शिक्षा-व्यवस्था और उसके फलस्वरूप हिंदी मध्य-वर्ग का काफ़ी विस्तार हुआ, इस मध्यवर्ग के नेतृत्व में (उर्दू-मुसलमान बनाम) हिंदी-हिंदू राष्ट्र-निर्माण[5] हेतु छोटे और मँझोले शहरों तक स्वयंसेवी सामुदायिक एवं साहित्यिक संस्थानों (जिनमें हिंदी पुस्तकालय आदि भी शामिल किए जा सकते हैं) की स्थापना हुई।[6] इन सबका एकल राजनीतिक उद्देश्य था हिंदी-सेवा द्वारा हिंदी-राष्ट्र निर्माण और, ज़ाहिर है, पत्रिकाएँ चूँकि इस शैक्षणिक कार्य के निष्पादन के लिए एक सर्वोत्तम साधन थीं, तो इनकी संख्या में भी वृद्धि हुई। 1920 ईस्वी से उपनिवेशवाद-विरोधी आंदोलन में तेज़ी आने के बाद तो पत्रिकाओं को पाठकों का स्वतंत्र और बड़ा राष्ट्रवादी बाज़ार मिला। इनकी उत्पादन और प्रसार दोनों की संख्याओं में गुणात्मक बदलाव आए।[7] अब वे सिर्फ़ सरकारी या सांस्थानिक संरक्षण की मोहताज़ नहीं रहीं। हिंदी पत्रिकाएँ आर्थिक तौर पर पहले से ज़्यादा स्वतंत्र और मुनाफ़ादेह भी होने लगीं। इसलिए यह महज़ संयोग नहीं था कि नियमित रूप से प्रकाशित होने वाली एवं चित्र एवं कार्टून छापने वाली 'पहली' पत्रिका *सरस्वती* 1900 ईस्वी में आई और इसका प्रकाशन नागरी प्रचारिणी सभा के तत्वावधान में इलाहाबाद से चिंतामणि घोष के इंडियन प्रेस जैसे बड़े प्रकाशन घराने से हुआ।[8]

---

[5] उर्दू बनाम हिंदी की राजनीति और हिंदी राष्ट्रवाद के इतिहास के बारे में अंग्रेज़ी और हिंदी दोनों में काफ़ी कुछ लिखा जा चुका है. अंग्रेज़ी में संक्षिप्त किंतु गहरी पड़ताल के लिए देखें, आलोक राय (2001). वीर भारत तलवार (2002).

[6] ज़्यादातर सार्वजनिक और सामुदायिक हिंदी पुस्तकालय, जैसे शारदा सदन पुस्तकालय, लालगंज, हाजीपुर; हनुमान पुस्तकालय, सलकिया, हावड़ा; मारवाड़ी पुस्तकालय, चाँदनी चौक, दिल्ली, आदि 1910 के दशक में स्थापित हुए जिनका संरक्षण हिंदू ज़मींदार, व्यापारी जाति के व्यक्ति या सामुदायिक संगठनों द्वारा लोकोपकार के तहत भाषा-जाति-राष्ट्र की उन्नति के भाव से किया गया. रुचिकर यह है कि अँग्रेज़ी हुकूमत ने भी इनके विकास और गतिविधियों को न केवल दर्ज किया बल्कि इन सांस्थानिक जगहों के राजनीतीकरण होने की संभावना पर निगहबानी भी की. स्वयंसेवी संस्थाओं (जैसे सेवा-समिति वग़ैरह) के उद्भव के ऐतिहासिक एवं राजनैतिक पक्ष की जानकारी के लिए देखें, कैरी ए. वॉट (2005).

[7] यहाँ सिर्फ़ एक-दो उदाहरण काफ़ी होगा, *नेटिव न्यूज़पेपर रिपोर्ट* के हवाले से हम यह कह सकते हैं कि कलकत्ते से छपने वाली हिंदी पत्रिकाओं के बारे में बंगाल के उन्नीसवीं सदी के अंतिम दशकों में जहाँ पत्रिकाओं का औसत सर्कुलेशन 300 से 500 था, वहीं 1920-30 के दशक में यह बढ़ कर 500 से 1500 तक हो गया. उसी तरह युक्त प्रांत (वर्तमान उत्तर प्रदेश) में पत्रिकाओं का उत्पादन और औसत सर्कुलेशन लगभग 3 से 6 गुना ज़्यादा बढ़ा. आज के अनुपात में यह संख्या भले ही कम लगे, 100 साल पहले यह काफ़ी मानी जाती थी. पुस्तकालय वग़ैरह में एक अख़बार और पत्रिका को एक नहीं बल्कि पूरा मुहल्ला भी अलग अलग समय में पढ़ता था, चौपाल या नुक्कड़ पर एक कोई पढ़ता और बाक़ी लोग उसे सुनते थे.

[8] बीसवीं सदी के उत्तरार्ध में हिंदी पत्रों के बदलते दृश्य स्वरूप को समझने के लिए देखें, अविनाश कुमार (2002) : 1-14. ; इंडियन प्रेस के इतिहास का जायज़ा लेने के लिए देखें, मुश्ताक़ अली (2007).

1920 के बाद *प्रभा*, *माधुरी*, *चाँद*, *सुधा, विशाल भारत* आदि सचित्र एवं रंगीन पत्रिकाएँ, जिनका मुद्रण और वितरण व्यावसायिक ढंग से व्यापारिक या ग़ैर-व्यापारिक प्रतिष्ठानों से होता था, अपने पाठकीय चंदे और चतुर व्यावसायिक नीतियों की बदौलत दीर्घजीवी हुईं और मुनाफ़े में चलीं। बढ़ते हुए पाठक वर्ग के साथ-साथ साहित्यिक पत्रिकाओं को निकालने वाले ज़्यादातर प्रेस ने अपनी कमाई के स्रोतों को बढ़ाना ज़ारी रखा। अपनी आमदनी के बड़े हिस्से की उगाही वे पाठ्य-पुस्तकों एवं अन्य व्यावसायिक प्रकाशनों (जैसे धार्मिक या सामाजिक अथवा 'सनसनीख़ेज़' और मनोरंजक प्रकाशनों) से कर लेते थे। औपनिवेशिक सत्ता के प्रतिबंधन के आलोक में पत्रिकाओं के संपादक अपनी सूझ-बूझ से राजनीतिक विषयों पर नपी-तुली बातें ही छापते थे ताकि सरकारी, अर्ध-सरकारी संस्थानों से चंदे और विज्ञापन आदि मिलते रहें। इसके अलावे वे व्यापारिक प्रतिष्ठानों से भी विज्ञापनों की उगाही के लिए सतत प्रयत्नशील रहते थे। जैसे, पत्रिका के लेख कभी-कभी उत्कृष्ट विज्ञापन कला की महत्ता को रेखांकित करते हुए बताते थे कि पाठकों-उप-भोक्ताओं के ज्ञानेंद्रियों को आकर्षित करने वाली इस कला के द्वारा वाणिज्य-व्यापार में श्रीवृद्धि होती है।[9] दरअसल, 1920 के बाद तक़रीबन सभी पत्रिकाएँ, चाहे स्वघोषित रूप से साहित्यिक हों अथवा राजनीतिक, सचित्र हो गईं और *भारी तादाद* में चित्रों को छापने लगीं। सभी संपादक लगातार यह कोशिश करने लगे कि उनके पत्र बेहतर बनावट, सजावट, आकार के हों ताकि पाठकों को वे आकर्षक लगें, यानि ज़्यादा बिकाऊ बन सकें। बहुत सारी पत्रिकाएँ (जो सामान्यतया अपने रुझान में मुखर राष्ट्रवादी होती थीं) अपने ग्राहकीय विस्तार के लिए विप्लवी और उत्तेजक विषयों को कविता और कहानियों के अलावा अपने पृष्ठों को फ़ोटोग्राफ़ व पेंटिंग आदि से मढ़ने लगीं। इन्हें जुर्माने और प्रतिबंध का ख़तरा लाज़िम तौर पर हमेशा बना रहता था, किंतु इसी कारण इनकी अधिक प्रसिद्धि होती थी और प्रसार भी। दरअसल, अब पत्रिकाओं के अलावे, प्रकाशकों के द्वारा चित्रमय राजनीतिक पुस्तक-पुस्तिकाएँ, पर्चे और पोस्टर भी भारी तादाद में छापे जा रहे थे।[10] शायद इस तरह की चित्रावलियों की लोकप्रियता के कारण जल्दी ही *चाँद* (1928) और *हिंदू पंच* (1930) जैसी पत्रिकाएँ अपना (विप्लवी) विशेषांक निकालने लगीं। लुब्बेलुबाब यह है कि 20वीं सदी का हिंदी प्रिंट जगत दृश्यमय हो रहा था।[11] नाना प्रकार के तत्कालीन ऐतिहासिक स्रोतों में इस बदलाव के कतिपय रूपों को स्पष्ट देखा जा सकता है। मसलन, पत्रिकाओं के बदलते रूप और गठन में, उनके विज्ञापनों में, चित्रों और चित्र-चर्चा जैसे स्तंभों में, संपादकों की प्रकाशित एवं अप्रकाशित चिट्ठियों और संस्मरणों में पत्रिकाओं के रंगीन और छविमय होने या बनाने की

---

[9] छन्नू लाल द्विवेदी (1931).

[10] सिर्फ़ एक उदाहरण के लिए देखिये, *बलिदान-चित्रावली* (1927). यह एक प्रतिबंधित राजनैतिक पुस्तिका थी जिसमें अपने धर्म और संस्कृति की रक्षा के लिए मुसलमानों और अंग्रेजों से लड़ते हुए मारे जाने वाले 'हिंदू-बलिदानियों' की तस्वीरें उनके लघु-जीवन चरित के साथ दी गई हैं.

[11] लेकिन इस महत्त्वपूर्ण बदलाव और उसकी परिणति के विभिन्न आयामों को वर्तमान इतिहास-लेखन, अगर एक-आध लेखों को छोड़ दें, में दर्ज नहीं किया जा सका है. इस संदर्भ में अंग्रेज़ी के दो हालिया लेख महत्त्वपूर्ण हैं. पहला लेख बंगाली सचित्र मासिक *प्रबासी* के बारे में है और दूसरा, *सरस्वती* के पहले 5-6 साल के अंकों को लेकर है जो साहित्यिक आलोचना में चित्रों और कार्टूनों के स्थान को लेकर है. देखें, समर्पिता मित्र (2013) : 204-49. ; सुजाता मोदी (2018) : 474-490. इस संदर्भ में हिंदी में संक्षिप्त किंतु सारगर्भित चर्चा के लिए देखें, अविनाश कुमार (2002) : 1-14.

ताक़ीद बिखरी मिलती है। इस लेख के अगले हिस्से में हिंदी प्रिंट जगत के दृश्यमय होने की उस प्रक्रिया पर चर्चा करेंगे जिसके तहत कार्टून और अन्य चित्र देर से ही सही लेकिन पत्रिकाओं का अभिन्न हिस्सा बनते हैं।

2

पत्रिकाओं में नई दृश्य-संस्कृति का आगमन

हिंदी पत्रिकाओं का स्वकथित शैक्षणिक उद्देश्य, अगर संक्षेप में कहें तो, राष्ट्र-हित में साहित्यिक-सांस्कृतिक पुनरुत्थान एवं समाज-सुधार हेतु पाठकों का समुचित विकास और विस्तार करना था। इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए पत्रिकाओं को ज्ञानवर्धक और लोकरंजक दोनों होना ज़रूरी था। शायद यह एक अघोषित मान्यता बन रही थी कि पत्रिकाओं को बड़े पाठक वर्ग तक ले जाने के लिए इन्हें देखने और पढ़ने दोनों में चित्ताकर्षक होना चाहिए, या शायद यों कहें कि (शब्द)पाठन और (चित्र)दर्शन दोनों एकल पाठकीय अनुभूति के हिस्सा हों। तत्कालीन संपादकीय व साहित्यिक विमर्श के हवाले से पत्रिका के बदलते मानकीकरण में चित्रों की केंद्रीयता को बख़ूबी समझ सकते हैं। 1900 के बाद से सभी पत्रिकाएँ अपने विज्ञापनों में न केवल अपने सचित्र होने का दावा करती थीं बल्कि हमेशा अपने चित्रों के सुंदर और गुणकारी होने की भी।[12] उदाहरणस्वरूप 1912 में अपनी 'वार्षिक विज्ञप्ति' में *सरस्वती* संपादक महावीर प्रसाद द्विवेदी ने अपनी उपलब्धियों का सालाना लेखा-जोखा दिया जिसमें उन्होंने तीन बातें चिह्नित कीं: 1. पत्रिका का नियमित और समयबद्ध प्रकाशन, 2. लेखों (पृष्ठों) की संख्या में इज़ाफ़ा और, इन सबसे महत्त्वपूर्ण, 3. हाफ़-टोन एवं रंगीन चित्रों में गुणात्मक और संख्यात्मक बढ़ोतरी।[13] चित्रों की बढ़ती संख्या अपने आप में पत्रिका के उत्तरोत्तर गुणात्मक विकास का मानक समझी जाती थी। *सरस्वती* में एक साल में छपे कुल चित्रों के बारे में आगे दिए गए चार्ट की प्रासंगिकता हम इसी संपादकीय दृष्टि से समझ सकते हैं।

पत्रिकाओं के प्रचार और प्रसिद्धि को बढ़ावा देने के लिए एक वर्ष के सभी अंकों में छपनेवाले कुल चित्रों का लेखा-जोखा भी पाठकों को दिया जाता था और साथ ही साथ यह भी ज़ोर देकर कहा जाता था कि छवियों के कारण आर्थिक लागत का बोझ बढ़ने के बावजूद पाठकीय अनुभवों की समृद्धि के लिए इनकी संख्या और भी बढ़ाने की कोशिश होगी। पत्रिकाओं में चित्रों और दृश्य संस्कृति की बढ़ती केंद्रीयता को हम अगले कई दशकों तक साफ़-साफ़ देख सकते हैं।[14]

---

[12] कम से कम *सरस्वती*, *प्रभा*, *चाँद*, *माधुरी*, *सुधा*, *विशाल भारत*, *युवक*, *गंगा*, *विश्वमित्र* आदि सभी जानी-मानी पत्रिकाएँ जो मैंने देखी हैं.

[13] देखें, *सरस्वती की हस्तलिखित सामग्री* (टंकण और मुद्रण के पहले के चरण की हाथ से लिखी हुई सामग्री जैसे लेख, कविताएँ, कहानियाँ, चित्रों के विवरण या कॉन्सेप्ट वग़ैरह, जिनमें संपादकीय सुधार, टिप्पणियाँ एवं निर्देशन भी अंकित हैं), 1912, लिटररी सेक्शन, भारत कला भवन, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, बनारस.

[14] देखें, *सरस्वती की हस्तलिखित सामग्री,* 1909. ऊपर उद्धृत 1912 की 'विज्ञप्ति' भी विगत दो सालों में चित्रों की बढ़ोतरी को विशेष रूप से रेखांकित करती है.

चित्र संख्या

महीना	हाफ़ टोन	रंगीन
जनवरी	8	1
फ़रवरी	8	0
मार्च	7	0
अप्रैल	8	1
मई	14	0
जून	11	0
जुलाई	8	0
अगस्त	6	0
सितंबर	5	1
अक्तूबर	5	1
नवंबर	9	1
दिसंबर	8	1
	96	6

मसलन, पटना से प्रकाशित होनेवाली रामवृक्ष बेनीपुरी द्वारा संपादित उग्र-राष्ट्रवादी मासिक पत्रिका *युवक* (1929) के अग्रिम विज्ञापन का पोस्टर (चित्र 3) भी इसकी पुष्टि करता है कि यह केवल पठन-पाठन के योग्य ही नहीं, देखने-दिखाने में भी श्रेयस्कर होगी।[15]

युवक के मई 1929 के अंक में *विशाल भारत* (कलकत्ता, 1926) का नीचे दिया गया विज्ञापन (चित्र 2) छपा जिसमें पत्रिका के दर्शनीय होने की ख़ासियत को विशेष तौर पर रेखांकित किया गया और बताया गया कि दाम के हिसाब से चित्रों से भरी-पूरी पत्रिका इतनी सस्ती है मानो ग्राहकों ने सिर्फ़ चित्रों के पैसे दिए और लेख, कविता, उपन्यास वग़ैरह मुफ़्त में उपहार-स्वरूप पा लिए। यह भी कहा गया कि हिंदी सेवा में समर्पित यह पत्रिका उबाऊ न होकर मनोरंजक होगी और सनसनीख़ेज़ भी, जो निम्नस्तरीय साहित्य और साहित्यकारों पर हथगोले भी बरसाएगी। चित्रों के उत्पादन मूल्य का ज़्यादा होना पत्रिका की लागत को काफ़ी बढ़ाता था यह संपादक भलीभाँति जानते थे। लेकिन वे यह भी भाँप गए थे कि तस्वीर बड़ी संख्या में ग्राहकों को आकर्षित करने का एक महत्त्वपूर्ण ज़रिया भी है। इसलिए व्यावसायिक दृष्टि से द्विवेदी से लेकर चतुर्वेदी तक सभी संपादक उपभोक्ताओं को पत्रिकाओं का बातस्वीर और दर्शनीय होना किसी बोनस की तरह पेश करते थे। प्रिंट के बाज़ार में छवियों की बढ़ती ताक़त को और बेहतर आँकने के लिए नीचे दिए गए कुछ और उदाहरण देखिए।

पहले जुलाई 1914 का एक और चित्र संबंधी अंग्रेज़ी विज्ञापन। खुली प्रतिस्पर्धा के तर्ज़ पर यह

[15] चूँकि प्रथम अंक जनवरी 1929 में निकला था, तो अनुमानतः यह विज्ञापन उसके कुछ महीनों पहले यानि 1928 के आख़िरी दो-तीन महीनों में छपा होगा. देखें, *शिवपूजन सहाय पेपर्स*.
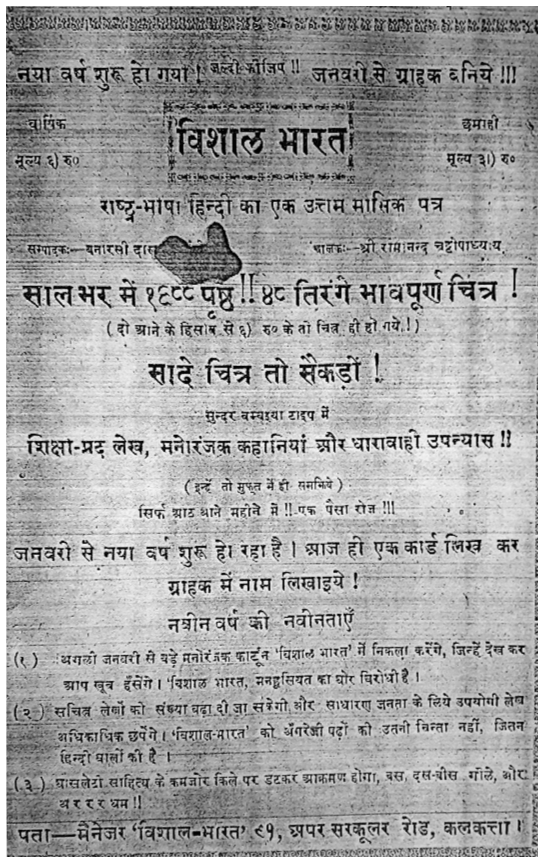
चित्र 2 *विशाल भारत* का विज्ञापन (*युवक*, मई 1929)
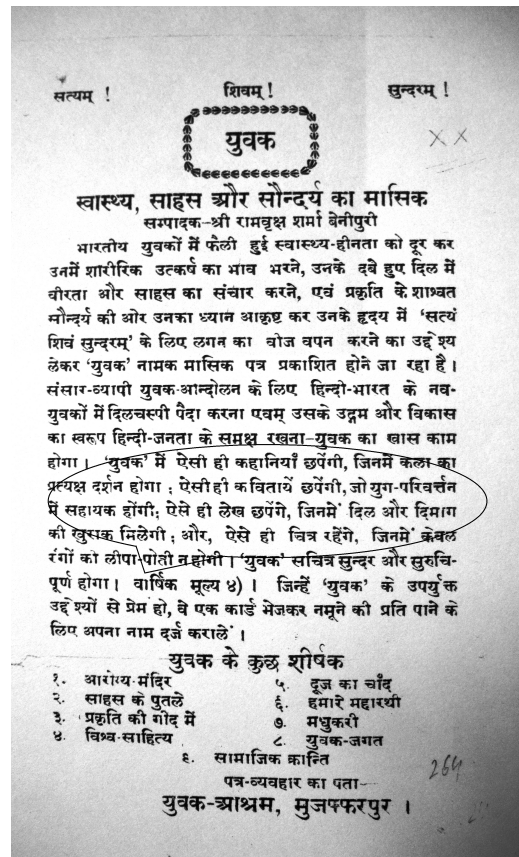
चित्र 3 *युवक* का विज्ञापन

पाठकों को अपने निजी संग्रह से देशी-विदेशी हर तरह की मौलिक पेंटिंग और तस्वीरें *सरस्वती* में छापने हेतु प्रेस में भेजने का आह्वान करता है। वहीं अपनी चयन में प्राथमिकता को भी रेखांकित करता है कि पेंटिंग बड़े आकार का और उसकी विषय-वस्तु भारतीय जीवन और इतिहास-पुराण केंद्रित हो। यह चयनित तस्वीरें भेजने वालों को उचित मूल्य (एवं अभिस्वीकृति)[16] देने का वादा करता है तथा अचयनित तस्वीरों की शीघ्र वापसी का।

इस विज्ञापन में एक और दिलचस्प बिंदु है, तस्वीरों के चयन में विषयगत प्राथमिकता का। और यह छवियों के रचनात्मक साहित्यिक इस्तेमाल की ओर इशारा करता है। इस बिंदु पर थोड़ी देर में वापस आएँगे। व्यावसायिक दृष्टि से ऐसे विज्ञापनों के कई मक़सद हो सकते हैं। जैसे, भागीदारी के बहाने ख़रीदारों का उत्पाद की तरफ़ अधिकतम ध्यानाकर्षण और, शायद उससे भी ज़रूरी, छपाई के लिए ज़रूरी माल यानि छवियों की सस्ती आउटसोर्सिंग। क्योंकि, मूल कलाकृति महँगी पड़ती थी और नए चित्र आर्टिस्ट को कमीशन करना तो सस्ता रास्ता क़तई नहीं था।

[16] अगर छपी हुई तस्वीरें किसी के निजी संग्रह से मिलती थीं तो उसका स्वीकरण भी किया जाता था.

PICTURES! _ _ _ _ _ _ PICTURES!

Readers are invited to submit original paintings in colour or monochrome of either Indian or western style for publication in this magazine.

Price of pictures and copyright should be mentioned when submitting and, if approved, they will be paid immediately.

Large Painting, ancient or modern, in oil or water colours, suitable for publication will be specifically considered; *more so those describing Indian Life, History or Mythology*. Non-approved pictures will be promptly returned.

कलाकर्मी के प्रोफ़ेशन का बृहत्तर व्यावसायिक बाज़ार में महती माँग और उसका न केवल स्वावलंबी बल्कि संपत्तिवान होना भी शायद इससे जुड़ी हुई नई परिघटना थी जो कि कला शीर्षक

चित्र 4 *सरस्वती* का आवरण पृष्ठ

चित्र 5 'कला' (*सुधा*, मार्च, 1939)

वाले कार्टून में काफ़ी दिलचस्प ढंग से वर्णित होती है।[17]

ज़ाहिर है कि कार्टून का चित्रकार सुशिक्षित मध्यवर्गीय शहरी भारतीय है। वह धनी और सुखी है जो एक भव्य और आधुनिक साज़ो-सामान और सुविधा से लैस घर में रहता है, और ग्रामीण भारत के सामाजिक यथार्थ की बजाय मानवविहीन और कमनीय लैंडस्केप के सुखद सौंदर्य को पेंटिंग में उतार रहा है। इस काम में अपने औज़ारों के साथ वह ख़ुशी-ख़ुशी मशग़ूल है। संवाद बुलबुला, जो कार्टून किरदार के मानसिक विचार और आवाज़ को दिखाने का ज़रिया होता है, से पता चलता कि वह ख़ुश है और उसे नाज़ है कि उसकी (या उसके श्रमोत्पाद की) 'खपत' नए औद्योगिक-व्यापारिक सेक्टर जैसे प्रकाशन-उद्योग, वस्त्र-उद्योग, फ़िल्म-उद्योग आदि में हैं। यह अपने आप में रुचिकर है कि यहाँ कलाकर्मी को समृद्ध और चिंतामुक्त व्यक्ति की तरह निरूपित किया गया है जो कि साहित्यकार के प्रचलित निरूपण का सीधा उल्टा है — वह सामान्यतया ग़रीब, गंभीर और (सामाजिक यथार्थ के बरअक्स) बेचैन दिखाया जाता है। जो भी हो यह कार्टून कम से कम हिंदी के प्रिंट-साहित्यिक जगत में चित्रकार की बढ़ती माँग, महत्त्व और आरामतलब जीवन शैली पर बख़ूबी तंज़ करता है।

चित्र और चित्रांकन की बढ़ती ज़रूरतों के कारण यूँ तो बड़े प्रकाशन प्रतिष्ठानों जैसे इलाहाबाद के इंडियन प्रेस, पटना/लहेरियासराय के पुस्तक भंडार, लखनऊ के भार्गव प्रेस आदि में सामान्यतया एक प्रशिक्षित चित्रकार को भी नियमित नौकरी पर रखा जाता था जिसका काम संपादकीय निर्देशानुसार किताबों, पत्रिकाओं आदि में चित्रांकन और सुलेखन करना होता था। लेकिन वे प्रेस की नियमित ज़िम्मेदारियों में ही काफ़ी व्यस्त और कार्य-बोझिल रहते थे। उपरोक्त विज्ञापन शायद इस संदर्भ में भी प्रासंगिक हो सकता है। प्रिंट बाज़ार में चित्रों की बढ़ती हुई माँग के कारण चित्रकारों की व्यस्तता और चित्रांकन में देरी पत्रिका के समयबद्ध प्रकाशन में अक्सर रुकावट बन जाती थी। नीचे दिए गए एक संपादक (शिवपूजन सहाय) और एक चित्रकार (उपेंद्र महारथी) के पत्राचार का कुछ अंश देखिए जो यह स्पष्ट करता है।

> पटना
> तारीख़ २९-८-१९३९
>
> प्रिय भाई साहब,
> आपका पत्र मिला, मैं शिकारियों का [की] कहानियों के चित्र के विषय मैं आपको लिख चुका हूँ। सायद [शायद], आपको मिल गया होगा। मैं इन चित्रों का retake करके कलकत्ते भेज चुका हूँ...मुख-पृष्ठ का चित्र मैं तैयार कर रहा हूँ और जहाँ तक जल्दी होगा आपके पास भेजूँगा।... इधर कामों की [काम के] pressure के कारण आपलोगों के काम को समय पर नहीं भेज सकता हु [सका हूँ]...
> विशेष कृपा।
>
> आपका
> महारथी[18]

---

[17] *सुधा*, मार्च 1939.

[18] वर्तनी संबंधी ग़लतियों को यथावत रखा गया है, बड़े कोष्ठक में मेरा सुधारा हुआ रूप है. देखें, *शिवपूजन सहाय पेपर्स* (लेटर्स फ्रॉम उपेंद्र महारथी, दिनांक 29.08.39). उपेंद्र महारथी जन्मना उड़िया थे लेकिन उनकी कर्मभूमि मूलतः बिहार रही. वे आर्ट-स्कूल में प्रशिक्षित कलाकार थे. प्राचीन भारतीय धर्म (ख़ासकर बौद्ध), कला और शिल्प परंपरा में उनकी गहरी रुचि थी. अपने करियर के शुरुआती सालों में वे बिहार के प्रसिद्ध प्रकाशन संस्थान, पुस्तक-भंडार (लहेरियासराय और पटना) के लिए बतौर

छवियों के कारण प्रकाशन में देरी की हक़ीक़त का बयान अलग-अलग ऐतिहासिक साक्ष्य विभिन्न रूपों में करते हैं, लेकिन सभी सबूत कुल मिलाकर हिंदी प्रिंट जगत में चित्रों की शक्ति, केंद्रीयता और नए दृश्य-संस्कृति के आगमन को ही रेखांकित करते हैं। जैसे, हिंदी पत्रकारिता की बदलती दृश्य संस्कृति के बारे में कुछ आलोचनात्मक लेखों को देखिए। सचित्र पत्रिकाओं के बढ़ते सैलाब पर तंज़ कसते हुए एक कला-समीक्षक ने कहा :

> हिंदी में इस समय बहुत-सी पत्रिकाएँ निकलती हैं। वे सब सचित्र ही निकलने का प्रयत्न करती हैं, मानो सचित्र निकलना हिंदुस्तानी जर्नलिज़्म में कोई जघन्य पाप हो। कभी-कभी तो यह सचित्र होने की इच्छा इतनी हानिकारक हो उठती है कि उसके कारण ग्राहकों को महीनों तक पत्रिका के दर्शन नहीं होते![19]

अर्थात, चित्रों के चक्कर में पत्रिकाएँ अपने एक महत्त्वपूर्ण पेशेवर मूल्य यानि समयनिष्ठा की भी अवहेलना कर देती हैं।

बहरहाल, तस्वीरें सिर्फ़ शोभा या व्यावसायिकता का साधन ही न थीं, बल्कि संपादक और पत्रिकाएँ अपने साहित्यिक सौंदर्य और राजनीतिक रुझान या एजेंडा के मुताबिक़ एक नई दृश्य संस्कृति का निर्माण भी कर रहे थे। बक़ौल सदन झा, यूँ तो 19वीं सदी के उत्तरार्ध से ही हिंदी जनपद की छविहीन पत्रिकाओं में दर्शनीयता को लेकर दृष्टि-केंद्रित नूतन विमर्श की शुरुआत हो चुकी थी,[20] लेकिन पहली बार 20वीं सदी की सचित्र मासिक पत्रिकाओं के पन्नों में देखने-दिखाने की वस्तुएँ और दर्शनीयता के विविध विमर्शपरक लेख दोनों एक साथ आईं। नाना प्रकार की छवियाँ, जैसे भारतीय संस्कृति, साहित्य और इतिहास का आह्वान करती पेंटिंग, भारत और विश्व के महापुरुष और महिलाओं के फ़ोटोग्राफ़, अजनबी और अनूठे आदिवासी समुदाय और भूगोल तथा आधुनिक तकनीक और वैज्ञानिक उपलब्धियों-आश्चर्यों के चित्र आदि, के साथ चित्र-चर्चा, चित्र-विन्यास संबंधित नूतन तकनीकी आविष्कार, देखने-दिखाने की नैतिकता, उसके शिक्षा-शास्त्र, इतिहास और दर्शन संबंधी आलोचनात्मक लेख भारी तादाद में छपने लगे थे। हम कुछ उदाहरणों से इसकी पुष्टि करके आगे बढ़ेंगे।

बक़ौल सुजाता मोदी हम देख सकते हैं कि महावीर प्रसाद द्विवेदी ने *सरस्वती* के ज़रिए रीति-काव्य परंपरा को ख़ारिज करते हुए नारी-सौंदर्य के नए साहित्यिक सामाजिक प्रतिमान गढ़ने हेतु लगभग 1905 ईस्वी से राजा रवि वर्मा आदि कृत आधुनिक पेंटिंग और चित्रों का सहारा लिया और इसके लिए इन तस्वीरों पर नई कविताओं के रचना और प्रकाशन को बढ़ावा दिया।[21] सिर्फ़ कविता में ही नहीं, चित्रों को केंद्र में रखकर लिखे गए साहित्यिक, सांस्कृतिक, ऐतिहासिक और राजनीतिक लेख वग़ैरह का विस्तार *सरस्वती* और उसकी परवर्ती पत्रिकाओं में काफ़ी हुआ। जैसे 1913 के

कलाकार काम करते थे. शिवपूजन सहाय (और बिहार के अन्य साहित्यिकों के साथ) उनके क़रीबी और आत्मीय संबंध भी थे. उसके बाद उन्होंने जापान में सालों रहकर शिल्प-शास्त्र और कला का अध्ययन किया. आगे चलकर वे बिहार शिल्प-अनुसंधान संस्थान, पटना के संस्थापक-निदेशक भी बने.

[19] सुधींद्र वर्मा बी. ए. (1930).

[20] सदन झा (2014).

[21] लगभग 1905 से शुरू होने वाली इन सचित्र-कविताओं का संकलन बाद में इंडियन प्रेस से पुनर्प्रकाशित किया गया. देखें, महावीर प्रसाद द्विवेदी (1921) ; सुजाता मोदी (2018) : 485-86.

गणेश राम मिश्र लिखित 'चित्रालोचना' शीर्षक लेख को देखिए।[22] जामिनी प्रकाश गांगुली की पेंटिंग 'बुद्ध-वैराग्य' पर लिखी गई इस आलोचना की शुरुआत राष्ट्रीय उत्थान में कला के महत्त्व के रेखांकन से होती है और हिंदी पत्रों द्वारा अच्छी छवियों की छपाई से चित्र-कला में होने वाले विकास में योगदान की बड़ाई करती है। इसके बाद यह लेख पेंटिंग के आलोचनात्मक पाठ करने की विधि को सोदाहरण समझाने के क्रम में जून 1912 के अंक में छपे 'बुद्ध-वैराग्य' के रंगीन प्रिंट पर चर्चा करती है।[23] एक पेंटिंग की चर्चा के बहाने यह लेख कला, इतिहास और राष्ट्रीयता के अंतर्संबंध तथा कला के पठन-पाठन एवं देखने-दिखाने की विधि और विमर्श को भी आम पाठकों तक (उनके प्रशिक्षण हेतु) ले जाने की चेष्टा करता है।[24]

संपादकों-लेखकों द्वारा चित्रों की चर्चा के बहाने इतिहास, राष्ट्रीयता और राष्ट्रवादी उद्गारों का आह्वान 1920 के बाद एक और दिलचस्प रूप में दिखता है। तीव्र सरकारी दमन और प्रतिबंध के दौर में ऐसे चित्रों के बहाने साम्राज्यवादी हिंसा के भावुक और भड़काऊ चित्रण और उपनिवेशवाद-विरोधी क्रांतिकारी राष्ट्रवाद की पैरोकारी भी की जाती थी। इसके उदाहरण के तौर पर हम युवक में छपे 'सिराजुद्दौला का वध-स्थल: चित्र-परिचय' को उद्धृत कर सकते हैं। यह पलासी के स्मारक को 'राष्ट्रीय-अपमान' के स्मारक की तरह देखने वाले एक भारतीय युवक के मनोद्गार का आख्यान है जो स्मारक के फ़ोटोग्राफ़ के बहाने अंग्रेज़ों और 'देशद्रोही' भारतीयों के द्वारा न केवल सिराजुद्दौला की हार और हत्या को भावुकता से याद करता है, बल्कि अंग्रेज़ों के आक्रमणकारी और कुटिल अतीत को उजागर कर उनके उदारवादी स्वाँग का पर्दाफ़ाश भी करता है। इस तरह के 'चित्र-परिचय' का केंद्रीय उद्देश्य चित्रों को सजीवता प्रदान कर उसे भावप्रवण बनाना होता था ताकि पाठकों-दर्शकों में व्याकुल और बलिदानी देशभक्ति का संचार हो सके।[25]

नए दृश्य-संस्कृति की निर्मिति छवियों के बहुआयामी रचनात्मक इस्तेमाल तक सीमित नहीं थी। तकनीक की जानकारी[26] से लेकर सीधे-सीधे राष्ट्रीयता, कला और दृश्य-संस्कृति के परस्पर संबंधों और उसके नैतिक और सौंदर्य-शास्त्रीय पक्षों पर भी सघन विमर्श लगातार ज़ारी रहा। जैसे, प्रमुख कला संग्रही, संरक्षक, रसिक और आलोचक रायकृष्ण दास ने तत्कालीन हिंदी पत्रों की दृश्य-संस्कृति में होने

---

[22] *सरस्वती*, अक्तूबर 1913.

[23] अपने पाठ में पेंटिंग की अच्छाइयों को उजागर करने के बाद उसकी ख़ामियों की चर्चा करते हुए यह लेख बताता है कि इसमें देश-काल का सटीक बोध नहीं होता. आलोचक के मतानुसार, चूँकि पाठकों/जनता में इतिहास-बोध को प्रसारित करना राष्ट्र-निर्माण का एक ज़रूरी घटक है इसलिए ऐतिहासिक कथानक वाली पेंटिंग का यथार्थवादी छायांकन के पैमाने पर खरा न उतरना इसकी एक ख़ामी है.

[24] एक और उदाहरण के लिए देखें, काशी प्रसाद जायसवाल (1907). यह लेख भी कला और मानव-सभ्यता के विकास की अंतरबद्ध कथा का आह्वान करती हुई प्राचीन भारतीय कला और हिंदू राष्ट्रीयता के गौरवमयी अतीत की चर्चा करती है, उसके बाद अचानक लंदन के नेशनल आर्ट गैलरी के बारे में जानकारी देती है. फिर अंत में एक चित्र 'एंजेल वाचिंग ओवर द बॉडी ऑफ़ क्राइस्ट' का वर्णन करती है.

[25] *युवक*, जून 1929.

[26] छायांकन की नई तकनीकी और उससे संबंधित वैज्ञानिक ज्ञान और वैज्ञानिकों-आविष्कारकों की जानकारी भी चित्रों और जीवनियों के बहाने दी जाती थी. सिर्फ़ एक उदाहरण के लिए देखें, 'रंगीन छाया चित्र', *सरस्वती*, जनवरी 1915, जो कलर फ़ोटोग्राफ़ी की तकनीक के आविष्कार और आविष्कारक की संक्षिप्त जानकारी देता है.

वाले युगांतकारी परिवर्तन के बारे में चिंता करते हुए कहा कि बाज़ार की ज़रूरत और रुचि के सापेक्ष लगभग सभी साप्ताहिक और मासिक पत्र अब सचित्र ही छपते हैं और अपने आप में यह एक अच्छी परिघटना है। लेकिन अधिकाधिक मुनाफ़े और बिक्री के पीछे भागने के कारण संपादक-प्रकाशक चित्रों की गुणवत्ता और परिष्कृत सौंदर्य को नज़रअंदाज़ करता है। वह निम्न-संस्कृति (लो कल्चरल) या लोकरुचि का परिमार्जन और सुधार करने की बजाय 'लोकप्रिय' (जो कि निम्न-स्तरीय और अशिष्ट है!) का अनुगामी बना हुआ है। चूँकि अवधारणा यह है कि 'लोक' के प्रशिक्षण, परिमार्जन और शुद्धि से ही राष्ट्र व राष्ट्रीयता का निर्माण हो सकता है, राय साहब यह साफ़-साफ़ कहते हैं कि :

> राष्ट्र को जिस प्रकार अन्य शिक्षा की आवश्यकता रहती है, उसी प्रकार निगाह के शिक्षा की भी...और, क्योंकि देश में आर्ट-स्कूल जैसी संस्थाओं का अभाव है, पत्रिकाओं का यह ख़ास दायित्व बनता है कि वे हिंदी जाति के निगाहों को देखने-दिखाने की कला में प्रशिक्षित करें।[27]

यह दिलचस्प है कि यहाँ राष्ट्रवादी विमर्श चित्रों की [आकर्षण] शक्ति को लेकर एक विचित्र पसोपेश में दिखता है, एक तरफ़ वह चाहता है कि राष्ट्रहित में राष्ट्रवादी और सुधार-सम्मत साहित्यिक पत्रिकाओं को आर्थिक रूप से स्वतंत्र और मुनाफ़ादेह होने के लिए सचित्र, मनोरंजक और लोकलुभावन बनाया जाए, वहीं दूसरी ओर वह नैतिक आशंका से ग्रस्त रहता है कि कहीं चित्रों की बेलगाम लोकप्रियता इस ख़ास तरह के राष्ट्र और उसके गंभीर चिंतन पर हावी होकर उसका बंटाढार ना कर दे! इसलिए जहाँ 19वीं शताब्दी में हिंदी पत्रिकाओं का न बिकना, आर्थिक घाटा होना पछतावा और ग़ुस्से का कारण था, वहीं अब पत्रिकाओं का लोकप्रिय और मुनाफ़ादेह होना नैतिक दुश्वारी का। ज़्यादा बिकने वाली सचित्र पत्रिकाएँ जो लोक रुचि और मनोरंजन को तरजीह देती हुई प्रतीत होती थी, उनकी शुचिता की निगहबानी और नैतिक नियंत्रण की बात कभी खुलकर तो कभी दबी ज़ुबान से की जाने लगी। अर्थात्, हिंदी पत्रिकाओं में चित्र कोई एक मासूम सजावटी चीज़ न था, उभरती हुई दृश्य-संस्कृति और उसके विमर्श में हमेशा इसके तार दर्शनीयता और अनुभूति की बृहत्तर राजनीति से नत्थी थे। और, इन सब परिवर्तनों के आलोक में कार्टून ने भी 'व्यंग्य-चित्र' के रूप में अपनी नियत जगह हिंदी पत्रिकाओं में बनाई जहाँ अब तक सिर्फ़ विभिन्न क़िस्मों के व्यंग्य 'लेखन' छपते थे। इस लेख के अगले हिस्से में हम व्यंग्य से व्यंग्य-चित्र की ओर होने वाले ऐतिहासिक संक्रमण के कुछ ख़ास पहलुओं पर प्रकाश डालेंगे।

3

व्यंग्य से व्यंग्य-चित्र की ओर

औपनिवेशिक पराधीनता के आलोक में सशक्त राष्ट्रीय-संस्कृति के निर्माण हेतु स्वघोषित सुधारवादी पत्रिकाओं और उनके झंडाबरदार संपादकों-प्रकाशकों का जो पहला सर्वमान्य क़दम था वह था देश, भाषा, संस्कृति और परंपरा के आधुनिकीकरण, उनकी समस्याओं और उनके कारकों को

[27] रायकृष्ण दास (1930). रायकृष्ण दास बनारस के कुलीन व्यापारी परिवार से आते थे, और भारत कला भवन, वाराणसी के संस्थापक थे.

उजागर करना। इस आलोचनात्मक उद्देश्य की प्राप्ति की दिशा में व्यंग्य-रचनाओं का ख़ास इस्तेमाल 19वीं सदी के उत्तरार्ध से होने लगा था। भारतीय भाषाओं में आधुनिक राजनीतिक अभिव्यक्ति के एक ख़ास वाहक के तौर पर व्यंग्य रचनाओं के आविर्भाव और उसकी ऐतिहासिक सार्थकता के विभिन्न पहलुओं और कारणों की पड़ताल करते हुए कई इतिहासकारों ने बताया है कि औपनिवेशिक आधुनिकता और देशी परंपराओं के परस्पर भिड़ंत के आलोक में भारतीय जीवन के हरेक पक्ष में तीव्र बदलाव हुए। भारतीय मध्य-वर्ग, जो ख़ुद इसी ऐतिहासिक परिघटना की पैदाइश थे, ने इस बदलाव के एहसास, उसके प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष सामाजिक परिणति की सामुदायिक अभिव्यक्ति के लिए नई भाषा और साहित्यिक विधाओं को गढ़ा। इस ऐतिहासिक परियोजना में औपनिवेशिक वर्तमान के समस्याओं का लाक्षणिक निरूपण प्रमुखतः सांस्कृतिक विषमता और/या दोहरेपन की शब्दावली में हुआ। कमोबेश अपनी दो-तीन विशेषताओं के कारण अन्य शैलियों के बरअक्स व्यंग्य रचनाओं ने औपनिवेशिक समाज की इन विसंगतियों के निरूपण में अनूठी और अनुपूरक ऐतिहासिक भूमिका निभाई।[28] जिनमें से एक है, हास्य-व्यंग्य की शैली की आंतरिक विधागत प्रकृति — व्यंग्य की भाषाई कार्य-प्रणाली का एक मुख्य हिस्सा अपने विषय-वस्तु में अंतर्निहित दोहरेपन को उजागर करना होता है। दूसरा है, इसके ख़ुद का अगंभीर पब्लिक प्रॉजेक्शन — अभिव्यक्ति की यह शैली विषय-वस्तु की हल्की-फुल्की आलोचना घुमा-फिरा कर करती है। और तीसरा, सार्वजनिक बहसों में व्यंग्य के संप्रेषणीयता की ख़ासियत — सार्वजनिक बहसों के संदर्भ में यह एक ऐसा माध्यम है जिसमें व्यंग्यकार सामाजिक-राजनीतिक समस्याओं पर अपने प्रतिपक्षी से प्रत्यक्षतः संवाद न कर उसके पक्ष का अतिरेकी और भौंडा निरूपण करता है, उसके तर्कों को विकृतिपूर्ण या विरोधाभासी दिखाकर और अक्सर उसकी स्थापनाओं का मख़ौल उड़ाकर परोक्षतः यथास्थिति में बदलाव की पेशकश और पैरोकारी करता है। इन विशेषताओं के कारण दमनकारी अंग्रेज़ी हुकूमत के दौर में सुधार-परस्त लेखकों-बुद्धिजीवियों ने 19वीं सदी के उत्तरार्ध से ही हिंदी की पत्रिकाओं में (जोकि सार्वजनिक बहस के एक महत्त्वपूर्ण फ़ोरम होने के कारण हिंदी जनपद की आंगिक संस्थाओं में से एक थे) व्यंग्य-शैली के लेखन को बड़े पैमाने पर अपनाया।[29] 20वीं सदी के आरंभ में हिंदी प्रिंट जगत की आर्थिक संरचना और दृश्य संस्कृति में होनेवाले उपरोक्त परिवर्तन के

---

[28] आधुनिक भारतीय भाषाओं (बांग्ला, उर्दू, हिंदी, मराठी और तमिल) के व्यंग्य-साहित्य की प्रमुख प्रवृत्तियों के विश्लेषण के लिए देखें, हंस हार्डर (2012) : 165-84. इसके अलावा बांग्ला के संदर्भ में सुदीप्त कविराज भी अपने दो लेखों में ऐसा ही इशारा करते हैं, देखें, सुदीप्त कविराज (1995) तथा (2000) : 379-406. उन्नीसवीं सदी की हिंदी व्यंग्य रचनाओं की एक ख़ास सामाजिक-ऐतिहासिक भूमिका यह थी कि औपनिवेशिक आधुनिकता और उसके फलस्वरूप उपजे सामाजिक और सांस्कृतिक चुनौतियों का सामना करने के लिए इनकी रचनात्मक अभिव्यक्तियों का इस्तेमाल (सवर्ण-पुरुषवादी) हिंदू मध्य-वर्ग के हितों और मान्यताओं के निर्माण और प्रसार में हुआ. एक सिरे पर ये उपनिवेशवादी आधुनिकता और उनके संस्थानों और प्रतीकों के दोहरेपन और अंतर्विरोधों पर चोट करते थे और दूसरे से उन पर जो इस आधुनिकता से उपजे सिद्धांतों और मान्यताओं से प्रभावित होकर अपने तथाकथित (पूर्व-निर्धारित) सामाजिक-सांस्कृतिक दायरे की अवहेलना कर रहे थे. ये दूसरे क़िस्म के पात्र ज़्यादातर निम्न वर्ग-जाति के लोग, महिला या मुसलमान होते थे या फिर 'संस्कृति-भ्रष्ट' परंपरागत या अंग्रेज़ीदाँ हिंदू. अधिक जानकारी के लिए देखें, प्रभात कुमार (2011) : 105-144.

[29] व्यंग्य लेखन की विधागत विशेषता और ऐतिहासिक-साहित्यिक पहलुओं की विस्तृत चर्चा के लिए देखें, प्रभात कुमार (2015).

आलोक में कार्टून के ज़रिए पत्र-पत्रिकाओं में इस अभिव्यक्ति की शैली को एक अतिरिक्त तस्वीरी आयाम मिला।[30] कार्टून किस तरह पत्र-साहित्य में प्रासंगिक बना, या ऐतिहासिक रूप से इसका सांस्कृतिक-राजनीतिक प्रकार्य क्या था, अब हम इसकी चर्चा विस्तार से करेंगे। यहाँ तीन परस्पर पूरक बिंदुओं पर चर्चा करना फ़ायदेमंद होगा कि पत्रों के संपादक-प्रकाशक कार्टून के 1) उद्देश्य, 2) उपयोग, और 3) उसके प्रसार को लेकर क्या राय रखते थे। चूँकि उनमें से शायद ही किसी ने सिल-सिलेवार चर्चा की है, इसलिए हम विभिन्न प्रकार के वाक़ेयात्मक साक्ष्यों और अप्रत्यक्ष टीका-टिप्पणियों के सहारे इस विषय पर नज़र डालेंगे।

4

कार्टून का कथित उद्देश्य

तत्कालीन स्रोतों जैसे संपादकीय टिप्पणियों आदि में 'व्यंग्य-चित्र'/कार्टून के अमूमन दो लक्ष्य बताए जाते थे। *सुधा* के मार्च 1929 अंक के संपादकीय आमुख में यह लिखा गया :

> कार्टून उद्देश्यों से बनते और प्रकाशित होते हैं। *एक उद्देश्य है केवल मनोरंजन या विनोद और दूसरा सुधार*। हमने जो कार्टून इस संख्या में दिए हैं, उनमें इन दोनों उद्देश्यों का समावेश है।...[31]

ज़ाहिर है, सुधार और मनोरंजन, दोनों ही हिंदी पत्रों के कथित वैचारिक उद्देश्य और आर्थिक ज़रूरत से सामंजस्य रखते थे और इस दोहरे उद्देश्य के वाहक के रूप में कार्टून एक सटीक माध्यम प्रतीत होता था। लेकिन जैसा कि ऊपर इशारा किया गया है सुधारवाद में निहित शुचिता के मानकीय आग्रह का मनोरंजन की अवधारणा में गूँथे हुए लोक या लोकरुचि के प्रति संदेह भी एक समानांतर हक़ीक़त था जो इनके परस्पर-व्यापी रिश्ते को हमेशा तनावपूर्ण रखता था। फलतः कार्टून अपने शुरुआती सालों से एक ऐसा मानीख़ेज़ माध्यम साबित हुआ जो एक साथ आकर्षक और विवादित दोनों था। मसलन, 1903 के आख़िरी अंक में अपनी वार्षिक टिप्पणी में *सरस्वती* संपादक ने साहित्य-समाचार नामक कार्टून-स्तंभ में अब तक छापे गए कार्टून और तत्कालीन साहित्यकारों के बीच उखड़े विवाद और तीखी प्रतिक्रिया के मद्देनज़र अगामी अंकों में कार्टून न छापने के निर्णय

[30] कार्टून की छिटपुट उपस्थिति के बारे में परवर्ती उल्लेख यूँ तो हमें बताते हैं कि 1890 के दशक के कुछ हिंदी पत्रों में ये छपते थे जैसे राधाचरण गोस्वामी, जो कि भारतेंदु युग के साहित्यकार थे ख़ुद भी काफ़ी व्यंग्य रचना करते थे और अपनी पत्रिका में विशेष जगह भी देते थे, की पत्रिका *भारतेंदु* में 'उन्नति की गाड़ी' शीर्षक से एक कार्टून छपने का ज़िक्र हमें मिलता है. क़यास यह है कि इसकी रचना उन्होंने ख़ुद की थी. *हिंदी बंगवासी* के संपादक अमृतलाल चक्रवर्ती भी अपने संस्मरण में, जो *विशाल भारत* में 1935 ई. के अंकों में क़िस्तवार छपा था, कुछ कार्टून छापने का हवाला देते हैं. चूँकि इस पत्रिका की काफ़ी सामग्री बंगाली की प्रसिद्ध *बंगवासी* पत्रिका से ली जाती थी, अनुमानतः इसके कार्टून भी वहीं से उधार लिए जाते होंगे. इस पत्रिका की उपलब्धहीनता के आलोक में ये अनुमान तर्कसम्मत हों या ग़लत, परंतु इतना तो तय है कि कार्टून अभी तक एक नियमित फीचर नहीं था. जैसा कि हमने ऊपर स्पष्ट किया है, इसका प्रायोजित और व्यवस्थित इस्तेमाल (काल क्रम के लिहाज़ से अन्य प्रकार के चित्रों के साथ) सर्वप्रथम *सरस्वती* के शुरुआती सालों (1902-03) के अंकों में, और फिर बड़े पैमाने पर 1920 के बाद लगभग सभी पत्रों में मिलता है.

[31] 'कार्टून संख्या के विषय में एक विशेष निवेदन', *सुधा*, मार्च 1929. (ज़ोर हमारा).

लेते हुए निम्नलिखित टिप्पणी की :

'*इस वर्ष साहित्य-समाचार-संबंधी जो [व्यंग्य-]चित्र प्रकाशित हुए वे पाठकों को बहुत पसंद आए।* इसलिए हमारा इरादा था कि हम इस क्रम को ज़ारी रखेंगे; परंतु कुछ पत्र हमारे पास ऐसे आए हैं, जिनसे सूचित होता है कि इन चित्रों से किसी किसी को मनोवेदना भी हुई है। इन चित्रों के द्वारा साहित्य की सामयिक अवस्था बतलाना ही हमारा एक मात्र अभिप्राय है। इस बहाने हम किसी को जरा भी वेदना नहीं पहुँचाना चाहते। *अतएव लोकरञ्जन का ख़याल न करके, हम इस क्रम को भंग कर देंगे।...*'[32]

इस उद्धरण में दो बातें ग़ौरतलब हैं। एक, व्यंग्य-चित्र लोकरंजक होने के कारण ग्राहक-पाठक के बीच लोकप्रिय हुआ, यानि यह प्रकाशन व्यवसाय के लिहाज़ से आकर्षक माध्यम था। दो, विषय-वस्तु की संप्रेषणीयता की दृष्टि से व्यंग्य-चित्र एक सटीक माध्यम बना। इतना सटीक कि किसी सामयिक विषय या समस्या पर पत्र या संपादक ने अपने आलोचनात्मक विचार रखने के लिए इस माध्यम को चुना; इतना प्रबल कि यह तीखे विवाद और फिर स्व-निष्कासन का कारण बना।

5

कार्टून का उपयोग : संपादकीय विचारों का प्रभावी संप्रेषण

इस संदर्भ में हमें अपनी समझ को और गहरी करने के लिए समकालीन स्रोतों में एक-दो कार्टून के लेखकीय/संपादकीय संदेश और उसके पाठकीय अर्थ को लेकर हुई साहित्यिक बहस और प्रतिक्रिया पर नज़र डालना प्रासंगिक होगा। लेखकीय उत्पादन और पाठकीय अभिग्रहण के दो सिरों से देखने पर हमें यह पता चलेगा कि कला की इस नई चित्रात्मक विधा के प्रति आकर्षण का एक अल्प-कथित/अनुद्घोषित संप्रेषणीय पक्ष भी था। शब्द और चित्र की अंतर्माध्यमिकता (इंटर्मिडियैलिटी) से कार्टून अपेक्षाकृत कम जगह घेर कर आम-फ़हम शब्दावली में ग़ैर-बोझिल तरीक़े से अपने विषय-वस्तु का मज़ाक उड़ाते हुए हमला/आलोचना करता था, इसलिए किसी चर्चित और पूर्व-ज्ञात मुद्दे पर आम बहस में हस्तक्षेप करने का यह माध्यम संपादक (और संपादकीय विचारों के पल्लवन) की दृष्टि से उपयोगी था। दूसरे छोर से भी इसकी संप्रेषणीय शक्ति की ही पुष्टि होती थी, आख़िरकार कार्टून-केंद्रित विवाद भी लेखकीय संदेश को लेकर पाठकीय अभिग्रहण और प्रतिक्रिया का ही लक्षण तो था।

बक़ौल सुजाता मोदी, महावीर प्रसाद द्विवेदी ने हिंदी जनपद में अपने हस्तक्षेप की शुरुआत संयोगवश नहीं बल्कि सोच-समझकर तीखे और सनसनीख़ेज़ तरीक़े से पेश करने के लिए कार्टून का उपयोग किया और संपादकीय अभिव्यक्ति के शक्तिशाली माध्यम के तौर पर इसे तरजीह दिया।[33]

---

[32] 'सिंहावलोकन', *सरस्वती*, दिसंबर 1903. ज़ोर हमारा. इस पत्रिका के कार्टून-स्तंभ *साहित्य-समाचार* में हिंदी-साहित्य की ('चिंताजनक') वर्तमान अवस्था पर तीखे और सनसनीख़ेज़ संपादकीय कार्टून छपते थे. देखें, सुजाता मोदी (2018) : 23-88. ; उदयभानु सिंह (1951) : 177-181. ; प्रमिला शर्मा (2002) : 121-124. नीचे हम और विस्तार से चर्चा करेंगे.

[33] जैसा कि मोदी की हालिया अंग्रेज़ी किताब और उसके पहले हिंदी के कई लेखों से पता चलता है, *सरस्वती*-संपादक महावीर

द्विवेदी का साहित्यिक एजेंडा उनके विस्तृत निर्देशन में प्रोफ़ेशनल चित्रकार द्वारा बनाए गए इन कार्टूनों में कैप्सूल की तरह संक्षेपित और हमलावर रूप में मिलता है, जिसका काफ़ी-कुछ नरमाये और विस्तृत रूप उनके समकालीन और परवर्ती लेखों में हमें मिलता है।[34]

बहरहाल, परंपरागत रूप-विन्यास में प्रचलित 'समस्या-पूर्ति' के कवियों और उनकी (शृंगारिक) कविता पर केंद्रित नीचे दिए कार्टून, जो *सरस्वती* के जनवरी 1903 के अंक में छपा, को देखिए। चित्र में एक गदा भाँजता हुआ लंगोटधारी है जो एक चहारदीवारी से घिरी विशिष्ट और अभिजात्य दिखनेवाली वाटिका के रमणीय वातावरण में (जो रामकथा के आख्यान में वर्णित अशोक-वाटिका के उच्छृंखल हनुमान की याद दिलाता है) मौजूद कुछ पुरुष और महिलाओं की तरफ़ आक्रामक मुद्रा में बढ़ रहा है। ये पुरुष कुछ चकित और शंकित दृष्टि से और महिलाएँ शर्माई और ठिठकी हुई-सी उस गदा-लंगोटधारी को देख रही हैं। शब्दों में दिए गए पात्र-परिचय से पता चलता है कि गदा भाँजता हुआ लंगोटधारी एक 'समस्या-पूरक कवि' है जो 'कविता-कुटुंब', यानि इंसानी रूप में निरूपित काव्य-गुणों : सरसता, अलंकार, अर्थ, अक्षर-मैत्री और व्यंग्य, की ओर आक्रामक है। कविता-कुटुंब तो कवि की मंशा को लेकर सिर्फ़ आशंकित और चकित लगते हैं क्योंकि कवि का कर्म शायद उनकी कल्पना के परे है, लेकिन सबसे नीचे दिए गए दोहे के माध्यम से (अदृश्य सूत्रधार के द्वारा) अगले क्षण में घटित होने वाले दृश्य का बयान होता है : यह [कवि] जो हाथ में भयंकर-सी गदा धारे हुआ है, उसको चला के [कविता-कुटुंब] मुख को चूर करने वाला है। यानि, दोहा इस अनहोनी को घटने से रोकने के लिए कविता-परिवार को आगाह करता है।[35]

शब्द और चित्र के अंतरमाध्यमिक दृश्यांकन से यह कार्टून बताता है कि समकालीन नामचीन कवि अपने रचनाकर्म और दायित्व के न्यूनतम बोध से भी इस क़दर विहीन है कि वह कविता के मूलभूत घटकों और गुणात्मक पैमानों का ही विनाशक हो गया है। ऐसे कवि और उनकी कविता, जो वास्तव में कविता-कला पर किया गया बलात्कार है, अपने आप में हास्यास्पद और त्याज्य है। इतना ही नहीं, उनकी कुमंशा से कविता-परिवार को आगाह करने की ज़रूरत है। कविता-कुटुंब के सदस्यों की चित्ररचना (आइकॉनॉग्रफ़ी) का अगर वैकल्पिक पाठ करें तो वे देखने में परंपरागत कविता के कुलीन संरक्षक-रसिक समाज की तरह भी दिखते हैं, इस दोहे के माध्यम से उन्हें भी

प्रसाद द्विवेदी ने पत्रिका का इस्तेमाल अपने आधुनिकतावादी वैचारिक रुझान के अनुसार हिंदी साहित्य और उसके मानकों के पुनर्नियोजन के बृहत्तर उद्देश्य से किया और खड़ी-बोली या वर्तमान हिंदी के पद्य, गद्य, व्याकरण, आलोचना, इतिहास, सौदर्य शास्त्र आदि सभी स्तरों पर साहित्य के पुनर्गठन में अब तक की प्रचलित परंपरा के विरुद्ध तीखा और ठोस साहित्यिक-राजनैतिक हस्तक्षेप भी किया. हालाँकि द्विवेदी के संपादकीय हस्तक्षेप और आलोचना-कर्म में कार्टून की केंद्रियता को सुजाता मोदी ने सबसे संगठित और बेहतर ढंग से रेखांकित किया है, लेकिन मोदी के अध्ययन में उसके सूक्ष्म-पाठ के ज़रिए इसकी विधागत विशिष्टता को उजागर नहीं किया गया है. देखें, सुजाता मोदी (2018) ; रामविलास शर्मा (1977).

[34] सुजाता मोदी के विपरीत द्विवेदी की साहित्यिक-राजनैतिक पुनर्निर्मितियों और उनके संपादकीय प्रभुत्व की पड़ताल करना हमारा सीधा उद्देश्य नहीं, इसलिए हम ऐसे कार्टून पर ही केंद्रित रहेंगे जिनके पाठकीय अभिग्रहण के बारे में भी अपेक्षाकृत अधिक सूचना उपलब्ध है और जिनसे कार्टून के संप्रेषण और आकर्षण शक्ति वाले पक्ष को बेहतर उद्घाषित किया जा सकता है.

[35] रीतिकालीन परंपरा की कविता के ख़ास संदर्भ में द्विवेदी से लेकर वर्तमान काल तक के हिंदी आलोचकों के रवैये पर केंद्रित समीक्षात्मक लेख के लिए देखें, अभय कुमार दुबे (2018) : 15-43.

साहित्य समाचार ।

कविता-कुटुम्ब पर विपत्ति ।

चित्र 6 '*कविता कुटुंब* पर विपत्ति'

आगाह करने की कोशिश है। हिंदी साहित्य का यह संरक्षक-परिवार सीधे तौर पर तो फ्रेम के अंदर है लेकिन उसका प्रतीकात्मक विस्तार फ्रेम के बाहर भी है। ये और कोई नहीं बल्कि हिंदी परिवार के नए सदस्य-संरक्षक हैं — ये हैं हिंदी के नए पब्लिक-पाठक-दर्शक।[36]

चूँकि दोहे की चेतावनी चित्र के अंदर नहीं है और वे उसमें मौजूद चरित्र को सुनाई नहीं दे सकते इसलिए प्रभावी रूप से दोहा हस्तक्षेप की माँग इस बृहत्तर कुटुंब से भी करता है।[37] इसलिए एक स्पष्ट

---

[36] राष्ट्रवाद के दौर में जब साहित्य के पैमाने का निर्माण सार्वजनिक रूप से लोक या अवाम को केंद्र में रख कर किया जा रहा था, तो हिंदी साहित्य या कविता के काल्पनिक परिवार की सदस्यता किसी अभिजात्य-रसिक समाज तक सीमित नहीं हो सकती थी. पूर्व-आधुनिक काल से अलग आधुनिक दौर में कविता या साहित्य की वैधता का स्रोत 'आम जनता' या राष्ट्र में निहित हो जाता है और साहित्य के लिए बोलने का प्राधिकार भी इस दावे से निर्णीत होता है कि वह आवाज़ वास्तव में उस 'आम जनता' या राष्ट्र की प्रतिनिधि है. इस अर्थ में, राष्ट्रभाषा और साहित्य के अंतिम पालक-धारक पाठक-जनता होती है.

[37] कार्टून और कार्टून-स्ट्रिप यानी कॉमिक्स में शब्दों और चित्रों की अंतरमाध्यमिकता और उसके अर्थ-संचार की तकनीकी गहराई तथा कार्टून में शब्दों के नियोजन और विन्यास तथा उसके सौंदर्यशास्त्रीय आयामों को विस्तार से समझने के लिए देखें, डेविड करियर (2004) : 27-45.

किंतु अनुच्चरित प्रस्ताव यह है कि प्रचलित कविता के रूप-गुण-संवेदना और कवि दोनों में ही आमूल परिवर्तन या सुधार के लिए हस्तक्षेप की ज़रूरत है और हिंदी के नए पाठक-दर्शक-पब्लिक से भी एक भावनात्मक समर्थन अपेक्षित है। ज़ाहिर है कि यह हिंदी कविता की भाषा और संवेदना को लेकर पहले से ज़ारी समकालीन बहस में एक तीक्ष्ण हस्तक्षेप है। खड़ी बोली के शुचितावादी कविता के पैरोकार द्विवेदी के तत्कालीन 'हिंदी-राष्ट्रवादी' एजेंडानुसार यह कार्टून ब्रजभाषा में प्रचलित पूर्व-आधुनिक [रीतिकालीन] संवेदना वाली परंपरागत कविता शैली और कवि पर आक्षेप करते हुए उसके अस्तित्व और प्रासंगिकता को ही ख़ारिज करता है। अघोषित लेकिन स्पष्ट रूप से *सरस्वती* और इसके संपादक नए ढंग की कविता और काव्य-संवेदना को प्रस्तावित कर परोक्ष ढंग से इस दिशा में लगातार प्रयासरत रहने का दावा भी करते हैं।

इस कार्टून द्वारा प्रेषित संपादकीय प्रस्ताव और दावे पर 31 जनवरी, 1903 के हिंदी साप्ताहिक *भारतमित्र* (कलकत्ता) में उसके संपादक बालमुकुंद गुप्त की एक दिलचस्प प्रतिक्रिया छपी। उपरोक्त कार्टून के संदेश को बख़ूबी दर्ज करते हुए गुप्त ने *सरस्वती* के उसी अंक में छपी एक ऐसी कविता की आलोचनात्मक समीक्षा की जो *सरस्वती* की प्रशस्ति में लिखी गई थी और जिसका सार था कि आर्थिक मुनाफ़े कि परवाह न करते हुए हिंदी भाषा की सेवा में समर्पित यह पत्रिका उम्दा विषय-वस्तु, मनमोहक चित्र और सुंदर छपाई से कोई समझौता नहीं करती। गुप्त ने चार पंक्तियाँ उद्धृत कीं और अपने तीखे तेवर में बताया कि *सरस्वती* की प्रशस्ति में लिखी गई यह कविता शृंगार के उसी भाव और लहज़े में है जिसे कार्टून में धिक्कारा गया है — *सरस्वती* का वैयक्तिकरण, उसकी भाषा और सौंदर्य का वर्णन कामुक अंदाज़ में एक बाज़ारू कन्या के रूप में किया गया है। गुप्त के शब्दों में:

> बालिका *सरस्वती* कहती है कि मैं वेश भी बड़ा जी लुभानेवाला बनाती हूँ और बातें भी बहुत मीठी-मीठी कहती हूँ, तिस पर भी खाने को पूरा नहीं पाती। हाय! हाय कैसी जन्म की दुःखिनी हूँ। शिव! शिव! इसका नाम कविता है! क्या भाव के सिर पर वज्र गिराया है! क्या *सरस्वती* को बाजारू स्त्री बनाया है![38]

गुप्त ने अपनी कटु समीक्षा में आगे यह भी लिखा :

> ...[*सरस्वती*] के मुख से वैसे ही शब्द निकालने चाहिए जो हिंदू कुल-कन्या के लिए उचित हैं। कन्या चाहे कङ्गाल हिंदू की हो, चाहे भाग्यवान की, वह रूप और मीठे वाक्यों की बिक्री नहीं कर सकती। यह काम वेश्या की लड़की का है। इससे उक्त कविता भद्दी ही नहीं है, कवि का भद्दापन भी दिखाती है।[39]

ग़ौरतलब यह है कि प्रचलित कविता और कवि पर संपादक द्विवेदी के सुधारवादी विचार कार्टून के माध्यम से इतने प्रभावी और उत्तेजक तरीक़े से प्रेषित हुए कि गुप्त ने अपने समीक्षात्मक लेख में उसी कार्टून और उसके वैचारिक संदेश के संदर्भ को केंद्र में रखना मुनासिब समझा। अपने आप में यह संपादकीय दृष्टि से कार्टून के प्रभावी और आकर्षक होने का ही अपरोक्ष सबूत है। यहाँ दर्ज करने

---

[38] झाबरमल्ल शर्मा और बनारसीदास चतुर्वेदी (सं.) (1950) : 525.

[39] वही, 526. हिंदी को सुशीला और कुलीन हिंदू स्त्री और उसके अन्य (उर्दू) को बाज़ारू और 'वेश्या' के रूप में अलंकृत और निरूपित करना एक स्थापित रूपक था जिसके बारे में काफ़ी लिखा जा चुका है. देखें, क्रिस्टॉफ़र किंग (1989) : 179-202.

लायक़ एक बिंदु यह भी है कि समीक्षा का यह दृश्य-केंद्रित अंदाज़ भी काफ़ी नया ही था। शायद यह एक नए साहित्यिक चलन की ओर इशारा करता है जिसमें लेखनी की पृष्ठभूमि या केंद्र में कोई दृश्य-वस्तु (विज़ुअल ऑब्जेक्ट) हो, जो जल्दी ही *सरस्वती* और उसके बाद की पत्रिकाओं में, जैसा कि इस लेख के पिछले हिस्से में हमने उद्धृत किया है, सामान्य हो गई। एक और क़ाबिले-ग़ौर बात ये है कि गुप्त ने द्विवेदी की सुधारवादी आलोचना अथवा उसकी मूल-प्रस्तावना को ख़ारिज नहीं किया, बल्कि उसी पैमाने पर जवाबी हमला कर दिया; उसी कार्टून और उसके निहितार्थ को उद्धृत कर उसके इकहरे आलोचनात्मक पक्ष को दुधारी बना दिया। और इस प्रकार गुप्त ने व्यंग्य-चित्र को पर-आलोचना के साथ-साथ आत्म-आलोचना के स्रोत होने की संभावना को भी उजागर कर दिया।[40]

बहरहाल, विचारों की प्रभावी, संक्षिप्त किंतु कठोर व दिलचस्प संवादपरकता के लिए कार्टून को संपादकों द्वारा खुली बांहों से अपनाए जाने की बेहतर पुष्टि के लिए एक दूसरा उदाहरण लेते हैं, जो लेखकीय मंशा और प्रभाव तथा पाठकीय अभिग्रहण और प्रतिक्रिया के रिश्ते के मद्देनज़र समकालीन हिंदी जनपद के खुलेपन और सीमाओं पर भी रोशनी डालेगा। *सरस्वती* के अगले अंक के संपादकीय कार्टून स्तंभ 'साहित्य समाचार' के लिए द्विवेदी ने इंडियन प्रेस के अनुबंधित कलाकार को अपने विस्तृत हस्तलिखित डिज़ाइन नोट में कार्टून बनाने की पेशकश की।[41]

आगे दिए इस नोट में पात्रों की स्थानिक अवस्थिति को दर्शाते रेखाचित्र व एक-एक चरित्रों के हाव-भाव और आकार-प्रकार के विवरण[42] के मद्देनज़र यहाँ दो बिंदुओं को दर्ज करना लाज़िमी होगा : एक, द्विवेदी दृश्य-संचार भाषा की बारीकियों को लेकर काफ़ी सजग हैं। दो, वे कार्टूनी हमले के लक्ष्य को स्पष्ट और सपाट रखने, या इसके अर्थ और उसके संप्रेषण को पूर्व-नियोजित और नियंत्रित करने को लेकर पूर्व-निश्चित भी। बहरहाल, चित्रकार ने संपादकीय नोट से वफ़ादारी निभाते हुए जो कार्टून बनाया वह (चित्र 7) *सरस्वती* के फ़रवरी-मार्च 1903 के अंक में छपा।

---

[40] जैसा कि जल्दी ही *सरस्वती*-संपादक के वाक़ये से ज़ाहिर हुआ, अगले उदाहरण से यह बिंदु और भी स्पष्ट हो जाएगा कि कार्टून रचना में रचनाकार की आलोचना के पूर्व-मौजूद तंतु होने की संभावना के कारण अपने विचारों को अनन्य रूप से श्रेष्ठ मानने वाले संपादकों के लिए कार्टून आत्म-बंधन/संपादकीय निष्कासन का भी बहाना बन जाता था.

[41] यहाँ यह बताना प्रासंगिक होगा कि हिंदी की दुनिया में बतौर कार्टूनिस्ट की पहचान वाला कोई कलाकर्मी इस काल तक नहीं मिलता, सामान्यतया संपादकीय निर्देशानुसार पत्रिका के लिए डिज़ाइनिंग और चित्रांकन का काम करने वाले कलाकार ही इसे बनाया करते थे. 1920 के दशक के बाद से हिंदी पत्रिकाओं में कुछ विशेषज्ञ कार्टूनिस्ट नज़र में आते हैं जो संपादकीय निर्देश के बाहर अपने विचारधारा और रुचि के अनुसार समसामयिक विषयों पर कार्टून बनाकर पत्रिकाओं में छापने के लिए भेजते थे या प्रकाशक-संपादक उन्हें बतौर कार्टूनिस्ट अपनी रचनाओं को भेजने की गुज़ारिश करते थे. लेकिन ऐसे कार्टूनिस्ट भी एकल पहचान नहीं रखते थे या सिर्फ़ कार्टूनिंग से जीविकोपार्जन नहीं करते थे. वे इसके अलावा स्वतंत्र कवि-साहित्यकार अथवा कलाकार भी होते थे. इन कार्टूनिस्टों के बारे में, कार्टून के नीचे दिए गए उनके संक्षेपित हस्ताक्षर के अलावा बहुत कम ऐतिहासिक जानकारी उपलब्ध है. 1920-30 के दशक में हिंदी की पत्रिकाओं में सबसे ज़्यादा हस्ताक्षर या निशान छोड़ने वाले सिर्फ़ एक कार्टूनिस्ट के बारे में हम थोड़ा बेहतर पता लगा पाए हैं, जो उसी काल में युवा कवि मोहनलाल महतो 'वियोगी' के तौर पर भी प्रसिद्ध हुए. 'वियोगी' के कार्टूनों के बारे में प्राथमिक जानकारी के लिए देखें, प्रभात कुमार (2018).

[42] यह रेखाचित्र और शाब्दिक विवरण उदयभानु सिंह की उपरोक्त उद्धृत किताब से लिया गया है. देखें, उदयभानु सिंह (1951) : 178.

साहित्यसभा
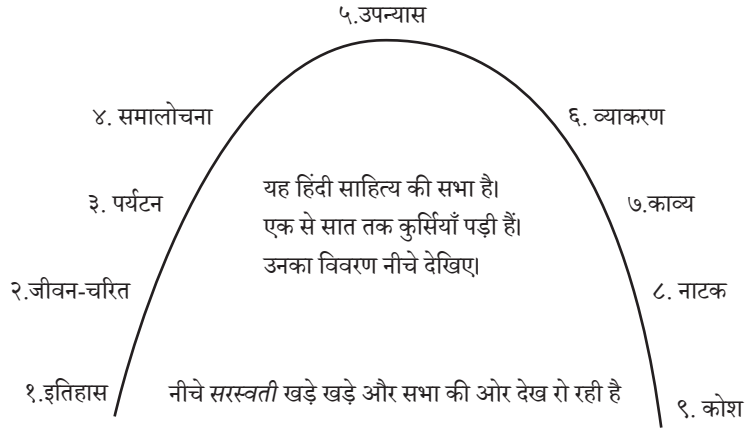
१. ख़ाली
२. ख़ाली
३. एक खूबसूरत लड़का, वय कोई १० वर्ष, इसी प्रांत का रहने वाला, पायजामा, बूट और अचकन पहने, घड़ी लगाए, सिर पर फेल्ट कैप दिए बैठा है- शरीर स्थूल है- बलिया के बाबू साधुचरण प्रसाद जिन्होंने पर्यटन पर एक ग्रंथ लिखा है उनकी शक्ल दरकार है –उनकी तस्वीर उनकी किताब में है।
४. एक बंदर बैठे हुए मुँह बना रहा है और हाथ में दर्पण लेकर अपना मुँह देख रहा है।
५. एक बहुत ही, निहायत ही मोटा बाज़ीगर बैठा है –चक्करदार पगड़ी, लंबी दाढ़ी, दाहिने हाथ में डमरू- बाएँ में रीछ अथवा बंदर और बकरी सामने खड़े हैं –नाचने की कोशिश कर रहा है-पास ही एक झोली पड़ी है- मोटा खूब होना चाहिए-मोटा बनाने का कारण है।
६. एक कोढ़ी बैठा है –टिन पात्र दाहिने हाथ की कलाई में लटक रहा है।
७. एक बनारस का गुंडा, उमर 20 वर्ष,-टोपी कान तक टेढ़ी-दुपट्टा बर्क बर्क- बूट बारनिश का – जंजीर गले में पड़ी उसी में घड़ी लगी है –पूरा बदमाश नज़र आना चाहिए।
८. एक कंगाल चीथड़े लपेटे हुए हाथ में फूटा लोटा, महाकंगाल बैठा है।
९. ख़ाली

साहित्यसभा ।
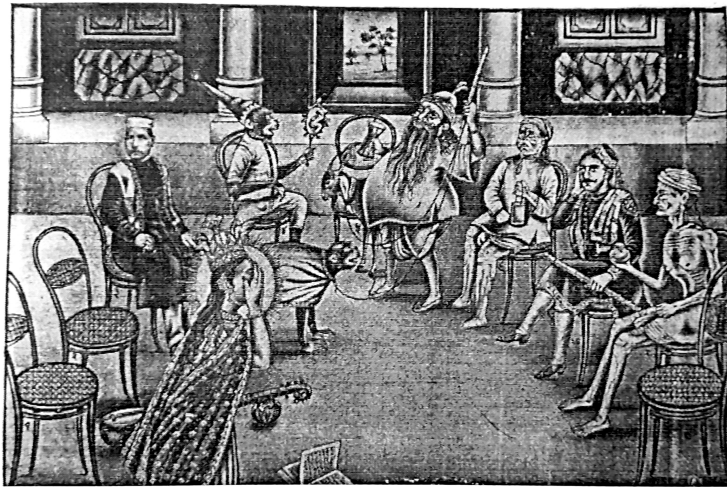
१–इतिहास–(ख़ाली) । २–जीवनचरित–(ख़ाली) । ३–पर्यटन । ४–समालोचना । ५–उपन्यास । ६–व्या-(धि)-करण । ७–काव्य । ८–नाटक । ९–कोश–(ख़ाली) । सरस्वती सभा की ओर देख रो रही है ।

चित्र 7 'साहित्यसभा'

आधुनिक हिंदी साहित्य की (पुन:) निर्मिति को लेकर यह सवाल कि साहित्य के घटक क्या हैं और कैसे होने चाहिए, ज़ाहिर है, इस कार्टून की संकल्पना का केंद्र-बिंदु है। यह समकालीन पब्लिक बहसों में साहित्य की प्रचलित परिभाषाओं में से एक थी, जिसमें साहित्य का मतलब ज्ञान के विभिन्न रूपों के एक व्यापक समुच्चय से था।[43] जैसा कि हम देख सकते हैं, साहित्य की यह संकल्पना जैविक विकास के प्रचलित और प्रभावशाली वैज्ञानिक शब्दावली से प्रभावित भी थी[44] : एक स्वस्थ मानव शरीर की तरह साहित्य की संपूर्णता या उसके पूर्ण विकसित होने की शर्त थी ज्ञान की प्रत्येक विधाओं या अंगों का संतुलित और एकसमान विकास।

आधुनिक साहित्य की ऐसी ही अवधारणा के प्रस्थान-बिंदु से संपादक (भारतीय) राष्ट्रीयता के वाहक होने की महत्त्वाकांक्षा और दावेदारी करने वाली हिंदी भाषा-साहित्य के आंतरिक घटकों के दयनीय वर्तमान की सार्वजनिकता उजागर करता है। चित्र में आधुनिक आंतरिक साज-सज्जा, वास्तुकला और फ़र्नीचर (दीवारों की पेंटिंग, चिकने-पलस्तरित स्तंभ, खिड़कियों के शीशे और एकसमान ऊँचाई की साधारण कुर्सियाँ आदि) से सज्जित सभागार के क्लोज़ स्पेस में विभिन्न भाव-भंगिमा और रूप वाले किरदार मौजूद हैं। ऊपर दिए शीर्षक और नीचे लिखित पात्र-परिचय से यह स्पष्ट होता है कि यह साहित्य की सभा चल रही है जिसमें उसके कुछ सदस्य/घटक अनुपस्थित हैं और बाक़ी (पुरुष) विचित्र, विकलांग या असामान्य। फ्रेम/सभागार की ओर आती हुई जान पड़ती *सरस्वती* (जो यहाँ डबल रोल में है– एक ज्ञान की साक्षात देवी और दूसरी हिंदी भाषा की स्वघोषित *हितैषिणी* पत्रिका के मूर्तिमान रूप में) साहित्य की इस संसद में ज्ञान की विभिन्न विधाओं या सदस्यों के रूप-रवैये को देख, वीणा-पुस्तक छोड़ ठिठकी सी खड़ी और हाथों से अपने चेहरे को छुपा, रो रही है।

ग़ौरतलब है कि कार्टून के फ्रेम में मौजूद विभिन्न वस्तुएँ (लैंडस्केप पेंटिंग, कुर्सियाँ, सीमेंटेड चिकने-गोल पाए, खिड़कियों के शीशे, हाथ-आईना आदि) काल-क्षण के स्पष्ट निशान भी हैं जिनका एक सचेत उद्देश्य है इसमें दर्शाए जाने वाली परिघटना का ताल्लुक़ वर्तमान या आधुनिक समय से जोड़ना, न कि किसी अन्य या अतीत के कालखंड से। इसके अलावे, साहित्य के विभिन्न रूपों के परस्पर रिश्तों को यहाँ सभाई (असोसिएशनल) राजनीति और उसकी जगहों के आयाम (स्पेशियल डाइमेंशन) की आधुनिक राजनीतिक शब्दावली में कल्पित और निरूपित किया गया है, जिसके अनुसार हिंदी साहित्य अपने आदर्श रूप में ज्ञान के विभिन्न किंतु बराबर हस्ती और महत्त्व के अंगों/विधाओं का एक वृहत समुच्चय होना चाहिए। लेकिन, वर्तमान और वास्तविकता इस आदर्श

---

[43] हालाँकि इस कार्टून के संदर्भ में आधुनिक विज्ञान, दर्शन आदि को साहित्य-सभा का हिस्सा नहीं दिखाया गया है, लेकिन *सरस्वती* की विषय-सूची और द्विवेदी की अन्य रचनाओं को समग्रता से देखने पर लगता है कि वे ऐसी रचनाओं को भी आधुनिक साहित्य का हिस्सा मानते थे. साहित्य की एक दूसरी परिभाषा, जो कि दो दशकों बाद प्रभुत्वशाली या आमफ़हम हो गई, उसमें कल्पनामूलक रचनात्मक विधाओं जैसे काव्य, कथा या नाटक आदि को ही वास्तविक साहित्य का दर्जा दिया जाता था. औपनिवेशिक काल में साहित्य की बदलती और विभिन्न परिभाषाओं के इतिहास और उसकी राजनीति के बारे में जानकारी के लिए देखें, विनय धारवाड़कर (1994) : 158-88.

[44] यह महज़ संयोग नहीं है कि द्विवेदी ने हरबर्ट स्पेंसर (जिसने चार्ल्स डार्विन द्वारा प्रतिपादित विकासवाद के जीव-वैज्ञानिक सिद्धांत से नए सामाजिक सिद्धांत को गढ़ने की 'सफल' कोशिश की) से हिंदी की दुनिया को परिचित कराया. उनके शिक्षा संबंधी लेखों की किताब *एजुकेशन : इंटेलेक्चुअल, मॉरल ऐंड फिजिकल* का अनुवाद भी किया.

स्थिति से सर्वथा विपरीत है : सभा के केंद्र में, सभागार की पृष्ठभूमि की दीवार के ठीक बीच में टँगे पेंटिंग के आगे (पाठक को) जीवन की वास्तविकता और नैतिकता का बोध कराने वाला उपन्यास (कार) एक मोटा और बलिष्ठ मदारी है, जो (दर्शकों/पाठकों को) जादू की दुनिया में खींचने वाला खेल दिखाने में मस्त और सक्रिय है। उसकी देह-भाषा और आवरण प्राक-आधुनिक हैं और वह अन्य सभासदों की तरह कुर्सी पर बैठा न होकर खड़ा है। जो शायद यह भी दिखाता है कि हिंदी का उपन्यास आधुनिकता की भाषा, विधागत रूप, संवेदना, और सार्वजनिक आचार आदि से भी जुदा व वंचित है।[45] साहित्य के विभिन्न विधाओं के अंतर्निहित सौंदर्य को गंभीरता से परखने और निखारने वाला समालोचक आईने में ख़ुद को निहारता हुआ एक सजीला, आत्म-मुग्ध बंदर की तरह है। लेकिन वह मदारी के बंदर की तरह चौपाया या पूरा जानवर नहीं, उसका एक विकसित-परिमार्जित रूप है। लेकिन फिर भी चूँकि वह बंदर है, शायद इसलिए वह स्वभावतः अगंभीर और उच्छृंखल ही होगा। आत्म के क्षितिज को वैश्विक/व्यापक विस्तार देनेवाला यात्रा-साहित्य (कार) एक खोया हुआ दिशाहीन सा भद्र-पुरुष है। भाषा और साहित्य को दुरुस्त कर उसे पूर्ण और संश्लिष्ट बनाने वाला व्याकरण ख़ुद ही व्याधि या रोग-ग्रसित अपंग है। कविता (सूक्ष्म-भावुकता और सौंदर्य की वाहक न होकर) एक रोबीला-भड़कीला और क्रूर-सा लाठीधारी आभिजात्य पुरुष है। (बक़ौल शेक्सपियर, कालिदास) साहित्य को उत्कृष्ट और संपन्न बनाने वाला नाटक (कार) एक दरिद्र-कुपोषित मरणासन्न बूढ़ा है। वहीं इतिहास, जीवनी और शब्दकोश जैसी महत्त्वपूर्ण विधाओं की कुर्सियाँ ख़ाली हैं, अर्थात आधुनिक ज्ञान के ये निहायत ज़रूरी अंग हिंदी में नदारद हैं। अतएव फ़्रेम के अंदर मौजूद, कथित रूप से इस साहित्य-सभा की दर्शक यानि ज्ञान/कला-साहित्य की पालक-धारक देवी/पत्रिका सरस्वती, हिंदी की वर्तमान दशा को देख शर्म और चिंता से व्याकुल है। दर्शक की बात को थोड़ा और विस्तार देकर यदि इस छवि की अपने दर्शक से चाहत के दृष्टिकोण से देखा जाए, तो यह कार्टून के फ़्रेम के बाहर मौजूद पाठक-दर्शक-ख़रीदार समूह (जो पत्रिका और भाषा-साहित्य के मूल पालक-धारक भी हैं) को भी हिंदी भाषा-साहित्य और साहित्यकारों के विद्रूप वर्तमान से उसी तरह मुख़ातिब होने को निमंत्रित करता है और उनसे वैसी ही प्रतिक्रिया की अपेक्षा करता है जैसी प्रतिक्रिया कार्टून के फ़्रेम के अंदर की दर्शक (सरस्वती) की है। अर्थात्, यह कार्टून पाठक-दर्शक को संपादकीय एजेंडा में समाहित कर यथा-स्थिति में सुधार के लिए मौजूदा रचनाओं/रचनाकारों को ख़ारिज कर साहित्य या ज्ञान की विभिन्न विधाओं के पुनर्रचना की सामासिक पेशकश करता है। कार्टून के विषय-वस्तु में दर्शक से अपेक्षित भावप्रवण हिस्सेदारी का यह आह्वान कार्टून या दृश्य-माध्यम की उस विशेष गुण की तरह देखना बेहतर होगा, जिसे मिचेल के अनुसार 'एक छवि की दर्शक से चाहत' भी कह सकते हैं, जो नोट के दृश्यांकन के बाद उसे अतिरिक्त अर्थ और भाव-प्रवणता (एफ़ेक्टिव पावर) देता है और इसलिए चाहे-अनचाहे इस केस में संपादकीय अजेंडा को और अधिक प्रभावी बनाता है।[46]

---

[45] ज़ाहिर है यह मनोरंजन प्रधान और लोकप्रिय तिलस्मी-जासूसी-रोमांचकारी उपन्यास और देवकीनंदन खत्री व किशोरीलाल गोस्वामी सरीखे उपन्यासकार को लक्ष्य करके दिखाया गया है.

[46] डब्ल्यू जे. टी. मिचेल (1996) : 71-82. चूँकि यह द्विवेदी के लिखित नोट में स्पष्ट नहीं होता इसलिए हम लेखकीय व

बहरहाल, द्विवेदी ने इस कार्टून के माध्यम से तीखे हमलावर तेवर के साथ अति-संक्षेपित रूप में हिंदी जनपद में काफ़ी कुछ प्रेषित किया: साहित्य की अवधारणा और परिभाषा, मौजूदा हिंदी साहित्य और साहित्यकार का घटियापन, इसके ख़िलाफ़ एक स्वस्थ और नूतन प्रतिमान के आधार पर हिंदी भाषा-साहित्य के पुनर्निर्माण की ज़रूरत का आग़ाज़। कार्टून की प्रभावकारी शक्ति का साफ़-साफ़ इज़हार इसकी प्रतिक्रिया में उखड़े दिलचस्प सार्वजनिक बहस में भी हुआ, जिसमें इस कार्टून पर टीका-टिप्पणी या एक तरह से इसका (आंशिक) पुनर्पाठ ही नहीं हुआ, बल्कि इस विवाद ने समकालीन हिंदी-जगत में आलोचना और आत्मालोचना के मायनों और सीमाओं के मुद्दों को भी शायद छू लिया।[47] बालमुकुंद गुप्त ने एक बार फिर साहित्य की द्विवेदीय परिभाषा और उसकी मूल प्रस्तावना के आधार से बिना असहमत हुए अपनी कार्टून-केंद्रित लंबी प्रतिक्रिया में हिंदी के वर्तमान साहित्य और साहित्यकारों की स्थिति को लेकर रोचक प्रतिवाद किया। गुप्त के प्रतिवाद का सार तो यह था कि वर्तमान हिंदी साहित्य में ज्ञान की विधाओं की आलोचना में यह कार्टून वस्तुनिष्ठ न होकर अतिशयोक्तिपूर्ण और एकांगी है।[48] लेकिन कार्टून-केंद्रित प्रतिवाद की जड़ में शायद आलोचना-कर्म को लेकर भी एक विमर्श था जिसकी पुष्टि इस बात से भी होती है कि गुप्त ने अपनी आलोचनात्मक समीक्षा में 25 अप्रैल के *भारतमित्र* में 'समालोचक' की छवि पर ही (शब्दार्थतः व रूपकार्थतः) फ़ोकस रखा। गुप्त ने न केवल कार्टून के समालोचक-बंदर वाली आईना देखती/दिखाती तस्वीर को बड़ा करके इस समीक्षात्मक लेख के ऊपर छापा, बल्कि इसके बहुव्रीहि अर्थ पर चुटकी लेते हुए यह भी जताया कि चित्र में और कोई नहीं बल्कि समालोचक-महावीर (प्रसाद द्विवेदी का बॉडी-डबल) ही है।[49] गुप्त ने एक और इशारा किया कि द्विवेदी या किसी भी आलोचक को आत्मावलोकन/आलोचना के लिए भी बराबर प्रस्तुत और तैयार होना चाहिए।

जरा ठहरकर आईने के रूपकार्थ और अन्यार्थ के ज़रिए समालोचना के बारे में सोचते हैं। आलोचक का एक काम किसी दूसरे (के साहित्य) को आईना दिखाना या आलोचना करना होता है। लेकिन, अगर उसी आईने (या आलोचना के मानदंड) से वह (आलोचक) अपने आप को परखता है तो उसके क्या मायने निकलते हैं? अपने आप में आईना देखती/दिखाती तस्वीर, ज़ाहिर है, आत्मा-वलोकन और आत्म-मुग्धता दोनों ही अर्थों को एक साथ परावर्तित करती है। लेकिन, आईनाधारी-समालोचक यहाँ एक बंदर है जो अपने-आपको पहचानने की ही क़ाबिलियत नहीं रखता। यानि, एक स्तर पर वह आत्मावलोकन या आत्म-मुग्धता दोनों से परे है, और दूसरे स्तर पर वह मूलतः एक

पाठकीय मंतव्य में एकात्म स्थापित करने की कथित संपादकीय रणनीति के तौर पर नहीं देख सकते.

[47] पिछले कार्टून की तरह इस कार्टून की विषय-वस्तु के अनुमोदन और प्रशंसा में एक लंबी कविता *सरस्वती* में भी छपी. उसकी जानकारी और विवेचना के लिए देखें, सुजाता मोदी (2018) : 68-69. हमारे लेख के संदर्भ में *भारतमित्र* में छपी बालमकुंद गुप्त की प्रतिक्रिया ज़्यादा सटीक और प्रासंगिक है.

[48] यद्यपि वर्तमान हिंदी साहित्य में ज्ञान की कुछ विधाएँ (जैसे उपन्यास, इतिहास आदि) परिष्कृत और समृद्ध नहीं है, किंतु नाटक, कविता, व्याकरण, समालोचना आदि को लेकर किया गया आक्षेप ग़लत और तथ्यहीन है: 'द्विवेदी जी ने कृपापूर्वक सबको एक ही लाठी से हाँका है।' *गुप्तनिबंधावली* (527-29).

[49] गुप्त ने द्विवेदी को ही हिंदी का सबसे नामचीन समालोचक बताया और कहा कि उनका नाम भी महावीर है जो बंदर का ही शक्तिशाली देव रूप है.

निहायत भ्रमित और मंदबुद्धि प्राणी है। बंदर क्या जाने अदरक का स्वाद! इसलिए समालोचक के तौर पर उसका होना बेमतलब और बेमानी भी है। कुल मिलाकर बंदर-समालोचक एक आत्म-विनाशी (सेल्फ़-अनाहिलेटिंग) व्यक्तित्व भी है।[50] अब कार्टून के फ्रेम से लेकर हिंदी जनपद के बड़े फ्रेम में समकालीन पत्रिकाओं के पन्नों तक पसरे कार्टून-चर्चा को अगर देखा जाए तो कार्टून-कल्पित समालोचक के अलावे परोक्षतः इस बहस में कम से कम दो और समालोचक, द्विवेदी और गुप्त, भी हैं। एक स्तर पर, द्विवेदी ने फ्रेम के बाहर रहते हुए समालोचक-बंदर को आईना दिखाया, और उसी तरह गुप्त ने समालोचक-महावीर को। यह कल्पित समालोचक एक अन्य है, द्विवेदी का भी और गुप्त का भी। लेकिन दूसरे स्तर पर, ख़ुद को भी आईना दिखाने वाला कल्पित समालोचक फ़िगर, जो सिर्फ़ अपने न होने के वजूद में मौजूद — प्रेज़ेंट इन हिज़ ऐब्सेंस — है, शायद वह द्विवेदी और गुप्त सरीखे आलोचकों का ऑल्टर-ईगो भी है। आख़िरकार गुप्त और द्विवेदी दोनों ही हिंदी में ऐसे समालोचक की चाहत रखते थे जो (हिंदी साहित्य का) आत्मावलोकन/आलोचना कर सके, और शायद अवचेतन के स्तर पर अपने को अंशतः इसी भूमिका में देखते भी थे।[51]

बहरहाल, कार्टून के बहाने समालोचना के मायने पर हुई बहस की सुई जहाँ अटक गई वह यह थी कि हिंदी साहित्यिक जनपद में आलोचना की सीमा क्या हो?[52] आख़िरकार यह एक आम समझदारी या मान्यता थी कि हिंदी के सभी वर्तमान साहित्यकार राष्ट्र-सेवी और हितैषी थे और उनकी कृतियाँ राष्ट्रभाषा के भंडार को समृद्ध करने की दिशा में योगदान। क्या वर्तमान साहित्यिक योगदान को सिरे से ख़ारिज करती समालोचना हिंदी राष्ट्र के निर्माण में हितकर हो सकती है? हिंदी में आलोचना का रूप या उसके तेवर कैसे हों? क्या तीखी आलोचना व प्रतिवाद में कर्कश व्यंग्य का उपयोग हो अथवा नहीं, और क्या यह राष्ट्रभाषा की दावेदारी करने वाली हिंदी के आंतरिक साहचर्य और संगठन के लिए उपयुक्त है? हिंदी जनपद में साहित्य और साहित्यकारों ने अपनी छवि इतनी पवित्र और उच्चभ्रू गढ़ी थी कि शायद व्यंग्य-चित्र द्वारा की गई प्रतीकात्मक विकृति मूर्ति-भंजन की तरह असहनीय हो गई। इन सवालों के जवाब को हम कार्टून-विवाद के उपरांत द्विवेदी द्वारा इस माध्यम पर एकतरफ़ा घोषणा कर लगाए गए आत्म-प्रतिबंध में ढूँढ़ सकते हैं। जो शायद यह दिखाता था कि खुली आलोचना-प्रत्यालोचना और उसको हवा देने वाले इस माध्यम को लेकर हिंदी राष्ट्रवाद के शुरुआती काल में *सरस्वती*-संपादक और आधुनिकतावादी द्विवेदी का नज़रिया बदल गया। वह अब कार्टून की लोकप्रियता और उसकी सुधार-सम्मत संवादपरकता के बावजूद उसे संदेहास्पद नज़रिए से देखने लगे थे। कार्टून में आलोचना का जो हमलावर पक्ष था और जिसके सहारे वह हिंदी के परंपरागत अग्रजों को साध रहे थे, उसका निशाना वह ख़ुद भी हो सकते थे। इसके अलावे, द्विवेदी की पत्रिका *सरस्वती* जो ख़ुद को साहित्यिक गंभीरता का पैमाना, उसकी

[50] आम तौर पर एक आत्मघाती चरित्र ही व्यंग्य का सूत्रधार होता है, जो स्व-आलोचना का एक रणनीतिक तरीक़ा भी होता है.

[51] गुप्त ने इस कार्टून प्रतिवाद में स्पष्ट कर दिया था कि समालोचक को दूसरे की आलोचना करने (आईना दिखाने) के साथ अपनी आलोचना सुनने (आईना देखने) को तैयार रहना चाहिए.

[52] हिंदी जनपद की प्रकृति, उसकी विशेषता और सीमाओं के विषद और व्यापक ज्ञान के लिए देखें, फ्रंचेस्का ऑर्सीनी (2002).

परंपरा का निर्माता तथा वाहक मानती थी कार्टून का शरारती माध्यम उसके आत्म-छवि के ख़िलाफ़ भी जाने लगा था।

6

कार्टून की धमाकेदार वापसी और प्रचार-प्रसार के मायने

सरस्वती से निष्कासित होने के बाद हिंदी में आलोचना-प्रत्यालोचना के लिए लगभग दो दशकों के बाद 1920 के उपरांत वापस आया, लेकिन यह वापसी हुई धमाकेदार तरीक़े से। ज़ाहिर है यह लोकप्रिय राष्ट्रवाद का नया दौर था। महात्मा गांधी ने हिंदी के राष्ट्रभाषा बनने की संभावना
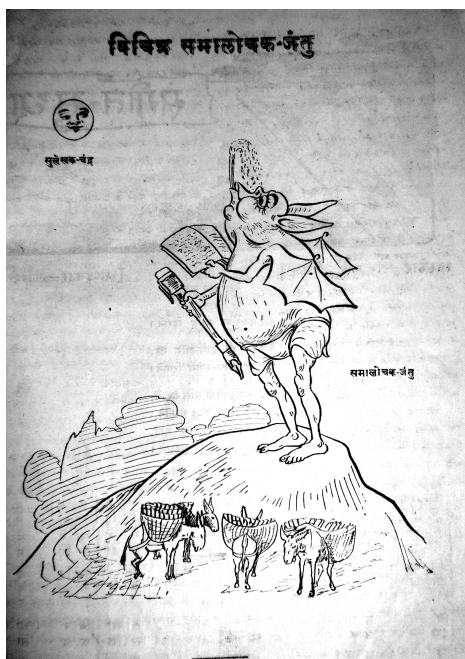
चित्र 8 'विचित्र समालोचक जंतु' (*माधुरी*, जुलाई 1924)
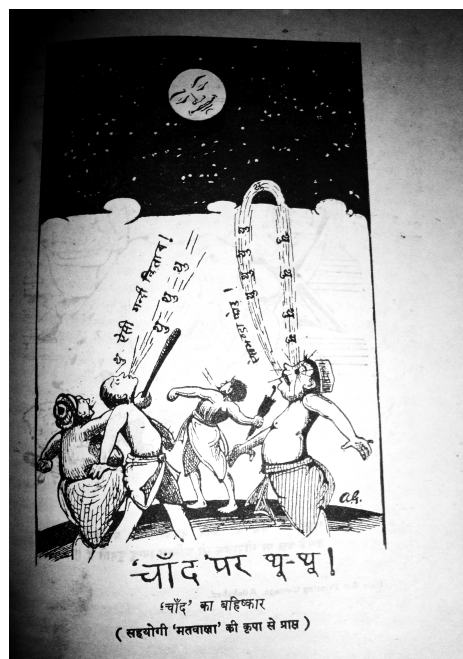
चित्र 9 'चाँद पर थू-थू!' (*चाँद*, नवंबर 1927)

पर अपनी मुहर लगा दी थी, और हिंदी उपनिवेशवाद-विरोधी राष्ट्रवाद के लोकप्रिय राजनीतिक अभिव्यक्ति का वाहक भी बन रही थी। फलस्वरूप इस समय हिंदी-राष्ट्रवाद आत्म-विश्वास से भरा हुआ था और शायद इसलिए आत्म-आलोचना के लिए तैयार भी। हिंदी साहित्य और उसके विभिन्न रचनात्मक और सांस्थानिक पक्षों से लेकर व्यक्ति-विशेष या किसी ख़ास रचनाकार या प्रकाशक-संपादक केंद्रित कार्टून के ज़रिए साहित्यिक आलोचनाएँ और छींटाकशी आम-फ़हम हो गईं।[53] जिसके कुछ उदाहरण ऊपर देखे जा सकते हैं।

[53] ज़ाहिर है इस तरह की आलोचना-प्रत्यालोचना के कारण वाद-विवाद, कटुता और मतभेद भी होते रहे, लेकिन अब किसी ने कार्टून के माध्यम को ही बंद करने की प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष कोशिश नहीं की.

पहला (चित्र 8) आलोचक की आलोचना में बनाया गया कार्टून है। इसके चित्र में चमगादड़ की तरह दिखनेवाला एक जंतु एक ऊँचे टीले पर खड़ा हुआ हाथ में किताब और क़लम पकड़े आकाश में चाँद की ओर मुँह करके थूक रहा है। नीचे कुछ गधे खड़े हैं जो घास चर रहे हैं। जो शायद यह दिखाता है कि वह जंतु गधों का मालिक है और उनको नीचे चरता छोड़ वह चाँद पर थूकने में व्यस्त है। शब्दों से पता चलता है कि चाँद यशस्वी-लेखक है और गधा-चराने वाला चमगादड़नुमा इंसान एक समालोचक। ज़ाहिर है यह लेखक की कृति को बिना पढे-समझे उसकी भर्त्सना करने वाले आलोचक, या दूसरे शब्दों में, आलोचना-कर्म की ही भद्द करने वाले आलोचक पर तंज़ करता हुआ कार्टून है। रूपक के स्तर पर इसी से मिलता-जुलता दूसरा कार्टून (चित्र 9) है जिसमें *चाँद* (पत्रिका) पर थूकते हुए कुछ लफंगे (आलोचक) हैं जो उसपर अश्लीलता का आरोप लगा रहे हैं। कार्टून यह उजागर करना चाहता है कि हिंदी जगत में समाज-सुधार की चाँदनी फैलाने वाले *चाँद* पर थूकना आलोचकों की मूर्खता का परिचायक है। यह कार्टून *मतवाला* में छपा था जिसे *चाँद* में पुनर्मुद्रित किया गया। इसका ताल्लुक़ उस साहित्यिक विवाद से है जिसकी नींव बनारसी दास चतुर्वेदी ने अपनी नई पत्रिका *विशाल भारत* के शुरुआती अंकों में डाली थी।

चित्र 10 'हिंदी साहित्य की वर्तमान दशा' (*विशाल भारत*, फ़रवरी 1927)

चतुर्वेदी के अनुसार मौजूदा हिंदी अश्लील और कामुक मिज़ाज के साहित्य से भरी हुई थी और इसकी शुद्धि के लिए उनकी पत्रिका द्वारा चलाए गए आंदोलन के वे स्वघोषित अगुआ थे। *विशाल भारत* ने *मतवाला* और *चाँद* (तथा उनके लोकप्रिय लेखकों) को अपने शुचितावादी हमले का ख़ास

निशाना बनाया था।[54] अगला कार्टून (चित्र 10) इसलिए विशाल भारत से लिया गया है जो इसी संदर्भ में हिंदी साहित्य के 'घिनौने' वर्तमान को लेकर है और चतुर्वेदी के नज़रिए को बख़ूबी संप्रेषित करता है। कार्टून में साहित्य के एक उद्यान की कल्पना की गई है जिसमें रति-शास्त्र, कोक-शास्त्र, जनन-विज्ञान या कामुकता प्रधान लोकप्रिय कथा-साहित्य, जिसे चतुर्वेदी ने 'घासलेटी साहित्य' का नाम दिया था, कुकुरमुत्ते की तरह उग आए हैं और साहित्य, दर्शन और विज्ञान जैसे पौधे सूखकर काँटे की तरह हो गए हैं। 'साहित्य-कोकिला' को उसके घोंसले से अपदस्थ कर 'घासलेटी साहित्य' का मोटा मेढ़क उसे धमका रहा है। ज़ाहिर है यह कार्टून भी हिंदी साहित्य के उद्यान की स्थिति को विद्रूप तरीक़े से पेश कर उसकी शुद्धि और सुधार के लिए तत्काल हस्तक्षेप की वकालत करता है।

हिंदी जनपद में साहित्य की दशा और दिशा को लेकर विभिन्न दृष्टिकोणों से तरह-तरह की आलोचना-प्रत्यालोचनाएँ कार्टून के माध्यम से लगातार ज़ारी रहीं। इस संदर्भ में अगला उदाहरण एक ऐसे कार्टून का लेते हैं जो अपनी संकल्पना और दृष्टिकोण में द्विवेदी के कार्टून 'साहित्यसभा',

चित्र 11 'हिंदी-साहित्य के अंग' (*सुधा*, मार्च 1929)

चित्र 12 '*मतवाला* और माधुरी'(*मतवाला*, 15 मार्च, 1924)

[54] यह बहुत ही प्रसिद्ध या कुख्यात साहित्यिक विवाद है जिसके बारे में काफ़ी-कुछ लिखा जा चुका है. इसलिए हम इसकी चर्चा को विराम दे रहे हैं. जो भी हो ग़ौरतलब यह भी है कि इस विवाद ने *विशाल भारत* को कम से कम व्यावसायिक फ़ायदा जरूर पहुँचाया यानि एक नई पत्रिका बड़ी जल्दी चर्चा में आ गई और इसकी प्रसार संख्या तेजी से बढ़ी.

जिसकी चर्चा हम ऊपर कर चुके हैं, के काफ़ी समीप था। 'हिंदी साहित्य के अंग' शीर्षक वाले इस कार्टून (चित्र 11) में हिंदी साहित्य एक ऐसे विकृत-शरीर वाला प्राणी है जिसके विभिन्न अंग कुपोषित और अविकसित हैं। जहाँ उपन्यास साहित्य अति-विकसित और दैत्याकार है, वहीं कोश, नाटक, इतिहास, अर्थशास्त्र, राजनीति, दर्शनशास्त्र, विज्ञान, स्त्री-साहित्य, बाल-साहित्य अत्यंत कुपोषित और विकलांगता की हद तक क्षीण है। जहाँ साहित्य के शरीर का मेरुदंड समालोचना इस विकृत शरीर को थामने में अक्षम है, वहीं उसके कुरूप मुँह से शृंगार-रस की कविता काफ़ी भयावह-सी प्रतीत होती है। साहित्य के इस जैविक परिकल्पना के दैहिक निरूपण में, ज़ाहिर है, सभी अंगों का समानुपाती विकास साहित्य के स्वास्थ्य के लिए निहायत ज़रूरी है। लेकिन, इस कार्टून के अनुसार, हिंदी का वर्तमान इस आदर्श के सर्वथा विपरीत, बिल्कुल विद्रूप और इसलिए बीमार है। अतः यथा-स्थिति में बदलाव की दरकार है।

इस तरह के दर्जनों कार्टून (कभी-कभी व्यंग्य-लेख के साथ भी) साहित्यिक मुद्दों पर अब बड़ी संख्या में प्रकाशित हो रहे थे। ये विवादों का कारण भी बने किंतु इन्हें इस दौर में प्रतिबंधित नहीं किया गया। *मतवाला* और *माधुरी* के बीच इसी तरह का विवाद हुआ। *मतवाला* के पन्नों को पलटकर लगता है कि उसके कार्टूनी हमले *माधुरी* (ख़ासकर उसके ब्रजभाषा कवियों रूप नारायण पांडेय और दुलारेलाल भार्गव और उनकी कविताओं) पर लगातार ज़ारी रहे। शायद ये साहित्यिक विवाद इतने व्यक्तिगत हो गए कि प्रेमचंद (जो उस समय *माधुरी* से जुड़े थे) को हस्तक्षेप करना पड़ा। इस संबंध में उन्होंने एक झल्लाहट भरा (प्रसिद्ध) ख़त मार्च 1925 में *मतवाला* में कार्यरत शिवपूजन सहाय को लिखा, जिसमें मतवाला के व्यंग्य को फूहड़ और स्तरहीन बताया।[55] *मतवाला* के 15 मार्च, 1924 में छपे कई कार्टूनों में से एक को हम यहाँ अंतिम उदाहरण के रूप में सिर्फ़ उद्धृत कर आगे बढ़ेंगे।

यहाँ यह बताना ज़रूरी है कि कार्टून अब केवल साहित्यिक आलोचना-प्रत्यालोचना तक सीमित नहीं रहा, न ही साहित्यिक पत्रिका 'साहित्य' तक। सभी पत्रिकाएँ, जैसे *प्रभा* (मासिक, कानपुर, 1920), *माधुरी* (मासिक, लखनऊ, 1922), *चाँद* (मासिक, इलाहाबाद, 1922), *सुधा* (मासिक, लखनऊ,1927), *विशाल भारत* (मासिक, कलकत्ता,1927), *गंगा* (मासिक, भागलपुर, 1931), *विश्वमित्र* (मासिक, कलकत्ता,1933), और काफ़ी हद तक उत्तर-द्विवेदी *सरस्वती* आदि, अब अपने विषय-वस्तु में पहले से और ज़्यादा विविध और 'राजनीतिक' भी हो गईं। हिंदी में कार्टून का प्रकाशन अब साहित्यिक मुद्दों के अलावे, और संख्या दृष्टि से उससे कहीं ज़्यादा, अब औपनिवेशिक सत्ता, राष्ट्रीय आंदोलन, जाति, धर्म-संप्रदाय और स्त्री प्रश्नों को मुखरता से उठाने के लिए होने लगा। जैसे, विविध विषयक सचित्र मासिक पत्रिका *प्रभा*, जिसमें अपेक्षाकृत अधिक राजनीति विषयक सामग्री छपती थी, ने 1921 और 1924 के बीच तक़रीबन 40 कार्टून छापे। इन पत्रिकाओं की तत्कालीन फ़ाइलों को (या सिर्फ़ इनके विषय-सूची को) भी सरसरी दृष्टि से देखने पर यह आसानी से दर्ज किया जा सकता है कि वैसी पत्रिकाएँ भी, जो सामान्यतया सीधे-सीधे उपनिवेशवाद-विरोधी विचारों या मुद्दों से बचतीं थीं, या सरकार-विरोधी राजनीतिक टिप्पणी नहीं करतीं थीं, जैसे *माधुरी*

[55] *लेटर्स टु शिवपूजन सहाय*, 09.03.1925, *शिवपूजन सहाय* पेपर्स.

और *सुधा*, वे औपनिवेशिक/साम्राज्यवादी सत्ता और संस्कृति की आलोचना कार्टून के ज़रिए करते हुए आसानी से पाई जा सकती थीं। मतलब, *मतवाला* और *हिंदू पंच* जैसी घोषित व्यंग्य-साप्ताहिक ही नहीं,[56] बल्कि विविध विषयक सामग्री छापनेवाली साहित्यिक-राजनीतिक पत्रिकाएँ सभी न केवल नियमित रूप से कार्टून का प्रकाशन करने लगे, बल्कि औपनिवेशिक सत्ता के दमनकारी नीतियों के मद्देनज़र उसका कूटनीतिक इस्तेमाल भी करने लगे।

अब लगभग सभी पत्रिकाएँ कार्टून छापने के साथ-साथ उसका विज्ञापन और नए तरीक़ों से उन्हें पुनर्बंडलित भी करने लगीं। इस संबंध में हम एक तर्कसंगत क़यास भी लगा सकते हैं कि कार्टून की संख्या और रचना में बड़े पैमाने पर होने वाली बढ़ोतरी के अनुरूप कार्टूनिस्ट की संख्या में भी वृद्धि हुई होगी। यद्यपि इसके सीधे दस्तावेज़ी-साक्ष्य बहुत कम हैं, लेकिन कार्टूनों पर उल्लेखित उनके रचनाकारों के हस्ताक्षर से इस बढ़ोतरी की पुष्टि की जा सकती है। कार्टून की लोकप्रियता, उसकी संख्या और माँग में हुई बढ़ोतरी का अंदाज़ा हम एक और वाक़ये से लगा सकते हैं : 1940 ईस्वी में रामनरेश त्रिपाठी ने काशी हिंदू विश्विद्यालय में मदन मोहन मालवीय के साथ बिताए तक़रीबन दो महीनों के बारे में लिखे अपने एक संस्मरण में यह वर्णन सुखद आश्चर्य के साथ किया कि यहाँ (कला विभाग) के ग़रीब छात्रों के बीच कार्टून बनाकर समाचार पत्रों को भेजना एक कुटीर उद्योग की तरह था।[57]

बहरहाल, अपने आप में एक और दिलचस्प परिघटना यह भी थी कि कार्टूनों की लोकप्रियता के मद्देनज़र पत्रिका के प्रकाशकों ने अब पुराने कार्टूनों को संकलित कर, या कभी-कभी पुराने के साथ कुछ नए कार्टूनों या विदेशी पत्रिकाओं से अंतर्राष्ट्रीय राजनीति विषयक कार्टून उधार लेकर, कार्टून-ऐल्बम या चित्रवाली छापने की परंपरा भी शुरू की। इन संकलनों का विज्ञापन ये प्रकाशक अपनी पत्रिकाओं में भी बख़ूबी करते थे। जैसे, सबसे ज़्यादा संख्या में कार्टून प्रकाशित करने वाली पत्रिका *चाँद* के अंकों में उसके संकलनों के विज्ञापन बहुधा आते थे। नमूने के तौर पर (चित्र 13) *चाँद* में छपा एक विज्ञापन है। विज्ञापन में चित्रावली के मूल्य, ऑर्डर देने की विधि और पते आदि के अलावे ख़रीदारों को आकर्षित करने के लिए सामग्री की झलक भी चार छोटे ब्लॉक में दी गई है। ये कार्टून बाल-विवाह, बेमेल-विवाह, 'दलित'-उत्पीड़न और स्त्री-उत्पीड़न को लेकर हैं, जो यह दिखाते हैं कि चित्रावली मूलतः पत्रिका के कार्टून और उसके वैचारिक विमर्श का ही नए रूप-आकार में व्यावसायिक विस्तार है। एक और तस्वीर (चित्र 14) ऐसे ही एक ऐल्बम/चित्रावली का आवरण है जिसमें छापे गए ज़्यादातर कार्टून *प्रभा* के शुरुआती 3-4 साल के अंकों से लिए गए हैं और कुछ (अंतरराष्ट्रीय विषयक कार्टून) विदेशी पत्रिकाओं से।[58] यह संकलन भी विषयवार बनाया गया लगता है जिसमें वर्गीकरण का आधार राजनीति, साहित्य, समाज, साम्राज्य, आदि रखा गया है। दिलचस्प ये भी है कि इस संकलन का नाम ही सिर्फ़

---

[56] *मतवाला* पत्रिका के साहित्यिक रूप (फ़ॉर्म) और ख़ास कर उसके कार्टूनों के बारे में जानकारी के लिए देखें प्रभात कुमार (2012).; *मतवाला* की सिर्फ़ लिखित सामग्री के संकलन और परिचय के लिए देखें, कर्मेंदु शिशिर (2012).

[57] त्रिपाठी केवल उन्हीं दिनों को गिनने लायक़ मानते हैं जब वे मालवीय से मिले थे, इसलिए सिर्फ़ 'तीस दिन'. रामनरेश त्रिपाठी (1942) : 158.

[58] *कैरीकेचर ऐल्बम-व्यंग्य चित्रावली* (कानपुर: प्रकाश पुस्तकालय, वर्ष अज्ञात)

चित्र 13 *चाँद* में छपा *व्यङ्ग चित्रावली* का एक विज्ञापन (अप्रैल, 1931)

CARICATURE
ALBUM
व्यंग चित्रावली

प्रकाश पुस्तकालय, कानपुर।

PRAKASH PUSTAKALAYA. CAWNPORE

Price 2/-

चित्र 14 *कैरिकेचर अल्बम-व्यंग चित्रावली* का कवर पेज

दुभाषिया नहीं है, कार्टूनों के शीर्षकों को हिंदी और अंग्रेज़ी में अलग-अलग दिया गया है। जिसका उद्देश्य अपने ग्राहक के दायरे को हिंदी से बढ़ाकर और अंग्रेज़ी तक ले जाना हो सकता है।[59]

इतना ही नहीं, इस दौर में कुछ संपादकों-प्रकाशकों ने पत्रिकाओं के कार्टून-विशेषांक भी निकाले। ऐसा ही एक विशेषांक *सुधा* ने मार्च 1929 में निकाला। विशेषांक में इन चित्रावलियों की तरह विभिन्न विषयक 81 कार्टूनों का संकलन के साथ-साथ, संपादकीय आमुख भी था, इसके वैश्विक इतिहास की लंबी समीक्षा भी। इसमें कार्टून को चित्र-कला के हास्य-रूप का दर्जा दिया गया, और इस कला को रोचक तरीक़े से परिभाषित कर इसे देशी कला व संज्ञान परंपरा से जोड़ने की कोशिश की गई। लेख के इस अंतिम हिस्से में कार्टून विशेषांक को केंद्र में रखकर कार्टून-कला के विज्ञापन, आमुख, प्रस्तावना, आलोचना, परिचयात्मक इतिहास आदि के बृहत्तर मायने पर चर्चा करेंगे।[60]

---

[59] ग्राहकों का विस्तार करने का यह व्यावसायिक तरीक़ा शायद इस बात को लेकर भी सजग था कि एक ही (हिंदू) परिवार में भिन्न-भिन्न भाषा के पाठक भी होते थे. अंग्रेज़ीदाँ पुरुष अमूमन हिंदी कम पढ़ते थे लेकिन अपनी स्त्रियाँ के लिए आमतौर पर हिंदी पत्रिकाएँ ख़रीदते थे.

[60] *सुधा* पत्रिका प्रकृति, उसकी विषय-वस्तु की साहित्यिकता, उसके प्रकाशक और प्रकाशन की विस्तृत जानकारी के लिए देखें, शोबना निझावन (2018). इस किताब में उक्त विशेषांक के कुछ कार्टूनों का संक्षिप्त उल्लेख भर है. हम विशेषांक के सिर्फ़ कार्टून-चित्रों को उल्लेखित न कर, कार्टून-विधा पर की गई विमर्शकारी टिप्पणियों पर नज़र डालेंगे.

7

'व्यंग्य-चित्र का इतिहास' : कला का दर्जा और देशीकरण

बक़ौल ज़ेरार्ड ज़ेनेट किसी पाठ का संपादकीय आमुख, प्रस्तावना, उसका ब्लर्ब और उस पर छपी संस्तुति, उसका विज्ञापन, उसकी समीक्षा आदि उसके परापाठ (पैराटेक्स्ट) होते हैं। परापाठ अपने आप में 'व्याख्या की दहलीज़' होते हैं जो पाठ की व्याख्या में एक कारगर अहाताबंदी करते हैं। ये किसी पाठ के प्रसारण से गहरे जुड़े होते हैं और पाठकों में पाठ के प्रति ख़ास रुझान और दृष्टिकोण पैदा कर पाठकीय व्याख्या को निर्देशित भी करते हैं।[61]

"कीन्हेहु सुलभ सुधा वसुधा हू।"
(गो० तुलसीदास)

वर्ष २ खंड २ | फाल्गुन, ३०६ तुलसी-संवत् (१९८६ वि०)— मार्च, १९२९ | संख्या २ पूर्ण संख्या २०

काटूर्न-संख्या के विषय में निवेदन

हमारा जहाँ तक समझा है, हिंदी-पत्रों के इतिहास में कार्टूनों की विशेष संख्या निकालने का हमारा यह प्रयास सर्वप्रथम है। कार्टून उद्देश्यों से बनते और प्रकाशित होते हैं। एक उद्देश्य है केवल मनोरंजन या विनोद और दूसरा सुधार। हमने जो कार्टून इस संख्या में दिए हैं, उनमें इन दोनो उद्देश्यों का समावेश है। आशा है, यह संख्या पाठकों को विशेष रुचिकर होगी। इसमें संदेह नहीं कि यह संख्या अधिक विलंब से निकल रही है, और इसके लिये हम क्षमाप्रार्थी हैं। कई अचिंतित, अनिवार्य कारण ऐसे आ उपस्थित हुए कि हम विशेष चेष्टा करके भी इस संख्या को यथासमय नहीं निकाल सके। एक निवेदन और है। इस संख्या में कुछ कार्टून ऐसे भी दिए गए हैं, जो सुधा की पिछली संख्याओं में निकल चुके हैं। हमा(रे) कई कृपालु मित्रों की सलाह यह हुई कि इस संख्या में सभी अच्छे कार्टूनों का संग्रह कर देना चाहिए। भिन्न-भिन्न संख्याओं में निकले हुए कार्टूनों को पाठक एकत्र, एक फ़ाइल में नहीं रख सकते। उन्हीं की सुविधा के लिये ऐसा किया गया है। इस अंक में त्रुटियों का होना असंभव नहीं। हमें विश्वास है, गुणग्राही पाठकगण उन त्रुटियों के लिये हमें क्षमा करेंगे।

दुलारेलाल भार्गव

चित्र 15 कार्टून-संख्या के विषय में निवेदन

सुधा-संपादक के आमुख, कार्टून के परिचयात्मक वैश्विक इतिहास तथा उसकी समीक्षा का पाठ

[61] ज़ेरार्ड ज़ेनेट (1997).

हम 'परापाठ' की तरह कर सकते हैं। यह परापाठ कार्टून-संग्रह के, या बृहत्तर फलक पर ज्ञान और कला के एक नए रूप में उभरे समग्र हिंदी कार्टून-कला को व्याख्यायित करने का पैमाना तय करने की कोशिश करता है। इसका अंतिम उद्देश्य कार्टून को दृश्य-कला के एक ऐसे उत्कृष्ट रूप में स्थापित करना है जिसका एक सभ्यतागत शजरा है, और वह एक ही साथ वैश्विक भी है और स्थानीय भी।

ग़ौरतलब है कि संपादक दुलारेलाल भार्गव ने अपने संक्षिप्त आमुख में, अपने विशेषांक की औपचारिक सराहना और उसकी त्रुटियों के लिए माफ़ी वग़ैरह माँगने के अलावे, दो महत्त्वपूर्ण बिंदुओं को छुआ। भार्गव ने न केवल कार्टून के गुणकारी सामाजिक उद्देश्य की चर्चा की (जिसे हम पहले ही उद्धृत और विश्लेषित कर चुके हैं), बल्कि उसे संग्रहणीय भी बताया। मतलब, कलात्मक वस्तुएँ संग्रहणीय होती हैं, और कार्टून भी उत्कृष्ट कला का एक रूप होने के नाते संग्रहणीय हैं। यह अपने मुनाफ़े की ख़ातिर एक प्रेस के मालिक-संपादक के द्वारा कहा कोई जुमला भर नहीं था। शायद यह हिंदी में कार्टून-कला को आधुनिक ज्ञान और कला के अन्य रूपों की तरह परखने और समझने के एक नए दृष्टिकोण के उभार का सूचक भी था।[62] इस नए दृष्टिकोण की भरपूर पुष्टि, विशेषांक में छपे अगले लेख से होती है जो कार्टून को विश्व सभ्यताओं की विभिन्न कलाओं में से एक बेहतरीन कला मानकर शुरू होती है और उसकी एक ऐसी परिभाषा गढ़ती है जो कला की इस आधुनिक विधा की वंशावली को भारतीय अतीत में आरोपित करने में मददगार हो।

'व्यंग्यात्मक एवं विनोदपूर्ण चित्रों का आरंभिक विकास' शीर्षक वाला यह लेख कला को मानव सभ्यता के विकास का पैमाना बताता है, और मानव सभ्यता को विभिन्न कालखंड और क्षेत्र में फैली भिन्न संस्कृतियों और सभ्यताओं का संघीय समूह। साथ ही साथ लेख ज़ोर देकर यह भी कहता है कि कला के विकास का कारण किसी एक संस्कृति का योगदान नहीं बल्कि विभिन्न संस्कृतियों, जैसे चीन, मिस्र, यूनान, रोम, भारत आदि, के द्वारा पिछले ढाई हज़ार सालों में दिया गया अलग-अलग योगदानों का समुच्चय है। इस मान्यता को रेखांकित करने के बाद यह लेख सभी हास्य-व्यंग्य प्रधान चित्रों को आधुनिक कार्टून-कला का पूर्ववर्ती मानते हुए उसकी वैश्विक महत्ता और इतिहास की संक्षिप्त रूपरेखा खींचता है। जिसके अंतर्गत इस लेख में प्राचीन काल से लेकर आधुनिक काल की शुरुआत तक प्राचीन मिस्र, यूनान, मध्यकालीन रोमन साम्राज्य, पुनर्जागरण, धर्म-सुधार और फिर 18वीं सदी के युरोप की उदाहरण सहित चर्चा की गई है।[63] इस चर्चा के दौरान एक दिलचस्प पहलू उभरकर सामने आता है। यह लेख भारत में कार्टून कला की परंपरा के न होने को लेकर पसोपेश में दिखता है, या दूसरे शब्दों में कहें तो, यह लेख कार्टून कला के आयातित होने

[62] संग्रह को बढ़ावा देती ऐसी अपील परोक्ष रूप से न केवल कार्टून बल्कि पत्रिकाओं को भी कला का एक दस्तावेज़ी रूप घोषित करती हैं. कार्टून और उनकी धारक पत्रिकाएँ अब सिर्फ़ सामयिक महत्त्व की चीज नहीं, बल्कि दर्शनीय कलात्मक वस्तुएँ हैं जिनका महत्त्व सनातन व समय-निरपेक्ष है.

[63] इस लेख के तथ्य ब्रितानी प्राच्यवादी विद्वान थॉमस राइट (1865) की पुस्तक से लिए गए हैं जो उस समय आर्ट-स्कूलों में भी पढ़ाई जाती थीं और हिंदुस्तान के पुस्तकालयों में भी उपलब्ध थी. यद्यपि यह एक युरो-केंद्रित इतिहास है जो मूलतः युरोप के बारे में है, जिसमें चीनी और भारतीय कला को कोई जगह नहीं दी गई है और बमुश्किल मिस्र की चर्चा करते हुए यह बताया गया है कि यहाँ की कला मूलतः यूनान से प्रभावित थी. लेकिन यह लेख बड़ी चालाकी से कार्टून के युरो-केंद्रित विश्व इतिहास को भारतीय राष्ट्रवादी इतिहास की सेवा में लगा देता है.

को लेकर राष्ट्रवादी असहजता से ग्रस्त जान पड़ता है। वैश्विक-समीक्षात्मक-परिचयात्मक इतिहास के बहाने यह लेख वास्तव में इस राष्ट्रवादी सांस्कृतिक उलझन का निदान दो स्तरों पर करता है।

पहले स्तर पर यह एक भौंडे क़िस्म की राष्ट्रवादी दलील देकर भारतीय अतीत में कार्टून कला के बीज ढूँढ़ता है। जैसे, यह दावा करता है कि भारतीय चित्रकला चूँकि अन्य सभ्यताओं से कहीं ज़्यादा समृद्ध थी और अतिप्राचीन रामायण-काल के साहित्य में हास्य और विनोद की समुन्नत परंपरा के साक्ष्य मिलते हैं, इसलिए उस समय व्यंग्य-चित्र परंपरा ज़रूर रही होगी। मतलब, व्यंग्यात्मक चित्रों के ऐतिहासिक सबूत का वर्तमान में न मिलने का एक ही कारण हो सकता है, जो है मुसलमानों और अन्य विदेशी आक्रमणकारियों द्वारा इसका विनाश। यानि, यह लेख कार्टून का देशीकरण इस दावे के साथ करने की कोशिश करता है कि भारत में इस तरह की कला परंपरा 'वैज्ञानिक ढंग से प्रचलित थी', जिसका ऐतिहासिक कारणों से क्षरण हो गया। दूसरे स्तर पर, यह कार्टून के देशी शज़रा को स्थापित करने के लिए या देशीकरण के लिए एक व्यवस्थित तर्क गढ़ने की ओर भी इशारा करता है। लेकिन पहले 'देशीकरण' को लेकर एक स्पष्टीकरण देना यहाँ प्रासंगिक होगा।

देशीकरण एक ऐसी सहज और अनुच्चरित ऐतिहासिक प्रक्रिया है जो किसी सांस्कृतिक वस्तु के नए परिवेश में होनेवाले (पुन:) उत्पादन और प्रसार के साथ ही शुरू हो जाती है और निरंतर चलती रहती है। इस अर्थ में कार्टून का देशीकरण, एक प्रक्रिया के तौर पर, अपने पहले पुनरुत्पादन से ही, या इस लेख के संदर्भ में, *सरस्वती*-काल से ही शुरू हो गई थी। अपनी न्यूनतम स्थानीय अर्थवत्ता के लिए शुरुआत से ही कार्टून को भी, किसी और कलारूप की तरह, अपनी सांकेतिक भाषा और बिंबों की निर्मिति स्थानीय भाषा और देशी संदर्भों में करना पड़ा, और वहीं से उसका देशीकरण शुरू हो गया। बहरहाल, यहाँ हमारा मतलब इस बृहत्तर प्रक्रिया के समानांतर, किंतु काफ़ी सीमित है। इस सीमित संदर्भ में देशीकरण से हमारा मतलब कार्टून को भारतीय बनाने की सक्रिय और सचेत परापाठीय तकनीक से हैं जो सीधे तौर पर कार्टून के सांस्कृतिक अधिग्रहण के राजनीतिक प्रयास को आसान बनाती है।

बहरहाल, दूसरे स्तर पर यह लेख एक दिलचस्प और गंभीर तर्क गढ़ता हुआ प्रतीत होता है। विश्व इतिहास-चर्चा के क्रम में यह लेख कार्टून की एक ऐसी सर्व-समावेशी परिभाषा गढ़ता है जो कार्टून के पूर्व-इतिहास के रूप में हास्य-रस से प्रभावित किसी भी दृश्य-कला को शामिल कर सकता है।

> हम यह निवेदन करना आवश्यक समझते हैं कि कार्टून-चित्रों को हम उन विनोद-पूर्ण और व्यंग्य-मूर्तियों से पृथक नहीं मानते, जिन्हें उस समय के कारीगरों ने बनाया था। यदि सच कहा जाए, तो वे मूर्तियाँ उस समय के कार्टून-चित्रों का दूसरा रूप थी। एक और बात पर भी ध्यान देना आवश्यक है। वह यह कि मध्यकालीन यूरोपियन कार्टूनों की सबसे अधिक प्रेरणात्मक शक्ति उस समय के विनोदपूर्ण साहित्य में थी… जो बातें साहित्य में अक्षरों द्वारा अभिव्यक्त की जाती थी, वे ही कार्टून-चित्रों में रेखाओं के द्वारा [की जाती थीं]…

मध्यकालीन युरोपीय संदर्भ का हवाला देते हुए गढ़ी गई इस व्यापक परिभाषा के आधार पर इस लेख में किसी भी हास्य या व्यंग्य-प्रधान निरूपण या चित्रण को, चाहे वह चित्रकला में हो या साहित्य या स्थापत्य-कला में, कार्टून का स्थानीय पूर्ववर्ती रूप बताया गया। अकादमिक शब्दावली में अगर कहा जाए तो निरूपण की अन्य विधाओं और कार्टून कला के अंतर्संबंधों पर उँगली रखते

हुए इस परिभाषा में कार्टून का अनुवाद 'दृश्य-व्यंग्य' के तौर पर करने की कोशिश की गई जो समकालीन विद्वानों के बीच आम तौर पर कार्टून की एक सामान्य परिभाषा भी थी। चाहे-अनचाहे इस दृष्टि से कार्टून का समकालीन प्रचलित हिंदी शब्द 'व्यंग्य-चित्र' अपने आप में कार्टून का सिर्फ़ शाब्दिक अनुवाद भर नहीं रहा, बल्कि वह हास्य या व्यंग्य-प्रधान कला-साहित्य की उपलब्ध या संभावित तौर पर मौजूद प्राचीन या प्रचलित देशी परंपरा से भी जुड़ गया।

लुब्बेलुबाब यह है कि, 1920 के बाद के नए संदर्भ में जब राष्ट्रवाद पहले से ज़्यादा लोकोन्मुखी हुआ, हिंदी जनपद अपेक्षाकृत ज़्यादा समावेशी बना और पत्रिकाएँ राष्ट्रवादी पाठकों के बढ़ते बाज़ार के कारण आर्थिक-व्यावसायिक दृष्टि से और बेहतर और समर्थ हुईं, तो कार्टून की उपादेयता को संपादक-प्रकाशक वर्ग ने बख़ूबी समझा। समसामयिक राजनीतिक-सामाजिक और साहित्यिक-सांस्कृतिक विषयों पर संक्षिप्त किंतु प्रभावी टीका-टिप्पणी हेतु कार्टून को हिंदी-पत्रों ने एक स्थायी हिस्सा बनाया। कला-साहित्य की इस नई आयातित विधा को पुनरुत्पादन, पुनर्पैकेजिंग, विज्ञापन, आलोचना, समीक्षात्मक इतिहास आदि के द्वारा न सिर्फ़ प्रचार-प्रसार किया बल्कि, इन सबसे बढ़कर, उसे देशी कला व संज्ञान परंपरा से जोड़कर उसका ऐसा देशीकरण किया कि कार्टून का निकटवर्ती आयातित अतीत और उसकी परासांस्कृतिक पहचान धुँधली और अर्थहीन हो गई।

(इस लेख पर टिप्पणी और सुझाव के लिए मैं सदन झा का आभारी हूँ।)

संदर्भ

प्राथमिक स्रोत

अप्रकाशित सामग्री :

सरस्वती की हस्तलिखित सामग्री, लिटररी सेक्शन, भारत कला भवन, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, बनारस.

शिवपूजन सहाय पेपर्स, नेहरू मेमोरियल म्यूज़ियम ऐंड लाइब्रेरी, तीन मूर्ति भवन, दिल्ली.

प्रकाशित सामग्री :

काशी प्रसाद जायसवाल, 'इंग्लैंड की जातीय चित्रशाला', *सरस्वती*, दिसंबर 1907.

दुलारेलाल भार्गव, 'कार्टून संख्या के विषय में एक विशेष निवेदन', *सुधा*, मार्च 1929.

बलिदान-चित्रावली (कलकत्ता : वैदिक पुस्तकालय, 1927).

'रंगीन छाया चित्र', *सरस्वती*, जनवरी 1915.

रायकृष्ण दास, 'वर्तमान हिंदी पत्रों में चित्र', *विशाल भारत*, मार्च 1930.

'सिराजुद्दौला का वध-स्थल: चित्र-परिचय', *युवक*, जून 1929.

सुधींद्र वर्मा बी. ए., 'हिंदी पत्र और चित्रकला', *विशाल भारत*, मार्च 1930.

पत्रिकाएँ :

सरस्वती (मासिक, इलाहाबाद, 1900); *प्रभा* (मासिक, कानपुर, 1920); *माधुरी* (मासिक, लखनऊ, 1922); *चाँद* (मासिक, इलाहाबाद, 1922); *सुधा* (मासिक, लखनऊ,1927); *युवक* (मासिक, पटना, 1929); *विशाल भारत* (मासिक, कलकत्ता, 1927); *गंगा* (मासिक, भागलपुर, 1931); *विश्वमित्र* (मासिक, कलकत्ता,1933) के विभिन्न अंक.

द्वितीयक स्रोत

अभय कुमार दुबे (2018), 'रीतिकाल-संहार से नायिका-द्वेष तक', *साहित्य में अनामंत्रित*, सस्ता साहित्य मंडल प्रकाशन, नई दिल्ली.

अविनाश कुमार (2002), 'हिंदी पत्रकारिता : प्रिंट संस्कृति के बदलते परिदृश्य (1900-1940)', *दीवान-ए-सराय 01 मीडिया विमर्श : // हिंदी जनपद*, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली.

आर.के. लक्ष्मण (1990), द *बेस्ट ऑफ़ लक्ष्मण,* पेंगुइन, नई दिल्ली.

आलोक राय (2001), *हिंदी नेशनलिज़म : ट्रैक्ट्स फ़ॉर द टाइम्स,* ओरिएंट लॉन्गमैन, नई दिल्ली.

उदयभानु सिंह (1951), *महावीर प्रसाद द्विवेदी और उनका युग,* लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ.

कर्मेंदु शिशिर (2012), (सं.), *नवजागरणकालीन पत्रकारिता और मतवाला*, खंड-1,2,3, अनामिका पब्लिशर्स, नई दिल्ली.

क्रिस्टॉफ़र किंग (1989), 'फोरजिंग अ न्यू लिंग्विस्टिक आइडेंटिटी : द हिंदी मूवमेंट इन बनारस, 1868–1914' सैंड्रिया फ्रायटैग (सं.) *कल्चर ऐंड पावर इन बनारस : कम्युनिटी, परफ़ॉर्मेन्स ऐंड एनवायरमेंट, 1800–1980* युनिवर्सिटी ऑफ़ कैलीफ़ोर्निया प्रेस, बर्कली.

कैरी ए. वॉट (2005), *सर्विंग द नेशन : कल्चर्स ऑफ़ सर्विस, असोसिएशन ऐंड सिटीज़नशिप,* ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, नई दिल्ली.

ज़ेरार्ड ज़ेनेट (1997), *पैराटेक्स्ट्स : थ्रेशहोल्ड्स ऑफ़ इंटरप्रेटेशन्स*, केम्ब्रिज युनिवर्सिटी प्रेस, केम्ब्रिज.

झाबरमल्ल शर्मा और बनारसीदास चतुर्वेदी (सं.) (1950), *गुप्तनिबंधावली,* गुप्त-स्मारक ग्रंथ प्रकाशन समिति, कलकत्ता.

डब्ल्यू जे टी मिचेल (1996), 'व्हाट डू पिक्चर्स 'रियली' वांट?', *अक्टूबर*, अंक 77, समर.

डेविड करियर (2004), *दि ऐस्थेटिक्स ऑफ़ कॉमिक्स,* युनिवर्सिटी पार्क पी ए : पेन्सिलवेनिया स्टेट युनिवर्सिटी प्रेस.

थॉमस राइट, (1865), *अ हिस्ट्री ऑफ़ कैरीकेचर ऐंड ग्रोटेस्क इन लिटरेचर ऐंड आर्ट*, चट्टो ऐंड विंड्स, लंदन.

प्रभात कुमार (2011), 'कोलोनियलिज़म, मॉडर्निटी ऐंड हिंदी सैटायर इन द लेट नाइंटींथ सेंचुरी', जाइटशिफ़्ट फुअर इंडोलोगी उंड जुदआसिएनस्टुडीएन, अंक 28.

————(2012), 'फ़्रॉम पंच टू मतवाला : ट्रांस-कल्चरल लाइफ़ ऑफ़ अ लिटररी फॉर्मेट' *एशियन पंचेज : ए ट्रांस्कल्चरल अफेयर*, बारबारा मित्तलेर और हंस हार्डर (सं.), स्प्रिंगर, हाइडेल्बर्ग.

————(2015), 'सैटायर, मॉडर्निटी, ट्रांसकल्चरालिटी इन लेट नाइंटींथ ऐंड अर्ली ट्वेंटिएथ सेंचुरी नॉर्थ इंडिया', डी फिल थीसिस, ऊनिवर्सिटाट हाइडेल्बर्ग.

————(2018), 'स्केचिंग अ फॉरगॉटन कार्टूनिस्ट : मोहनलाल महतो 'वियोगी' (1901-1990)', (सं.) मंजू लुडविग ऐंड रफ़एल क्लोएबर, *हर स्टोरी, स्कॉलरशिप बिट्वीन एशिया ऐंड युरोप : फ़ेस्टश्रिफ़्ट इन ऑनर ऑफ़ प्रोफ़ेसर गीता धरमपाल-फ्रिक,* क्रॉस एशिया ईबुक, हाइडेल्बर्ग.

प्रमिला शर्मा (2002), *सरस्वती*-संपादक पं. महावीर प्रसाद द्विवेदी के व्यंग्य-चित्र', *साहित्य अमृत,* फ़रवरी.

फ़्रंचेस्का ऑर्सीनी (2002), द *हिंदी पब्लिक स्फ़ियर, 1920-1940 : लैंग्वेज ऐंड लिटरेचर इन दि एज ऑफ़ नेशन-लिज़म,* ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, नई दिल्ली.

बारबारा मित्तलेर और हंस हार्डर (सं.) (2012), *एशियन पंचेज : अ ट्रांस्कल्चरल अफेयर*, स्प्रिंगर, हाइडेल्बर्ग.

महावीर प्रसाद द्विवेदी (1921), *कविता कलाप नामक सचित्र कविताओं का संग्रह*, इंडियन प्रेस, इलाहाबाद.

मुश्ताक़ अली (2007), *इंडियन प्रेस मोनोग्राफ़*, इलाहाबाद संग्रहालय, इलाहाबाद.

मुशीरुल हसन (2007), *विट ऐंड ह्यूमर इन कोलोनियल इंडिया*, नियोगी बुक्स, नई दिल्ली.

—————(2012), *विट ऐंड विज़डम : पिकिंग्स फ़्रॉम पारसी पंच*, नियोगी बुक्स, नई दिल्ली.

रामनरेश त्रिपाठी (1942), *तीस दिन मालवीय जी के साथ,* सस्ता साहित्य मंडल, नई दिल्ली.

रामविलास शर्मा (1977), *महावीर प्रसाद द्विवेदी और हिंदी नवजागरण,* राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली.

रिचर्ड डी. अल्टिक (1997), *पंच: द लाइवली यूथ ऑफ़ अ ब्रिटिश इंस्टिच्यूशन*, 1841-51, ओहायो स्टेट युनिवर्सिटी, कोलंबस.

विजयशंकर मल्ल (सं.)(1992), *प्रतापनारायण ग्रंथावली*, नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी.

विनय धारवाड़कर (1994), 'ओरिएंटलिज़्म ऐंड द स्टडी ऑफ़ इंडियन लिटरेचर्स', (सं.) सी. ए. ब्रिकेनरिज एवं पीटर वान डर वीअर, *ओरिएंटलिज़्म ऐंड पोस्ट को लोनियल प्रेडिकामेंट : पर्सपेक्टिव्स ऑन साउथ एशिया*, युनिवर्सिटी ऑफ़ पेन्सिलवेनिया प्रेस, फ़िलाडेल्फ़िया.

वीर भारत तलवार (2002), *रस्साकसी : 19वीं सदी का नवजागरण और पश्चिमोत्तर प्रांत,* सारांश प्रकाशन, नई दिल्ली.

शोबना निझावन (2018), *हिंदी पब्लिशिंग इन कोलोनियल लखनऊ : जेंडर, जार ऐंड वीजुआलिटी इन द क्रिएशन ऑफ़ लिटररी 'कैनन',* ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, नई दिल्ली.

सदन झा (2014), 'एक नई भाषा का उदय : देवनागरी जगत में देखना और दिखाना, 1850 से 1920 तक', *ऑकेज़नल पेपर सिरीज़ : समाज और इतिहास,* नेहरू मेमोरियल म्यूज़ियम ऐंड लाइब्रेरी, नई दिल्ली.

समर्पिता मित्र (2013), 'पीरियॉडिकल रीडरशिप इन अर्ली ट्वेंटिएथ सेंचुरी बेंगाल : रामानंद चटर्जी'ज़ 'प्रबासी', *मॉडर्न एशियन स्टडीज़*, 47, 1.

सुजाता मोदी (2014), 'विजुअल स्ट्रैटेजीज़ फ़ॉर लिटररी अथॉरिटी इन मॉडर्न हिंदी', *साउथ एशिया जर्नल ऑफ़ साउथ एशियन स्टडीज़*, अंक 37, सं. 3.

सुजाता मोदी (2019), द *मेकिंग ऑफ़ मॉडर्न हिंदी : लिटररी अथॉरिटी इन कोलोनियल नॉर्थ इंडिया,* ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, नई दिल्ली.

सुदीप्त कविराज (1995), 'ह्यूमर ऐंड द प्रिज़न ऑफ़ रियलिटी', *इन दि अनहैप्पी कॉन्शसनेस : बंकिमचंद्र चट्टोपाध्याय ऐंड द फ़ॉर्मेशन ऑफ़ नेशनलिस्ट डिस्कोर्स इन इंडिया*, ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, नई दिल्ली.

सुदीप्त कविराज (2000), 'लाफ़्टर ऐंड सब्जेक्टिविटी : द सेल्फ़-आइरोनिकल ट्रैडिशन इन बंगाली लिटरेचर', *मॉडर्न एशियन स्टडीज़*, अंक 34, सं. 2.

हंस हार्डर, 'टूवर्ड्स अ कॉन्सेप्ट ऑफ़ कोलोनियल सैटायर इन साउथ एशियन लिटरेचर्स', मोनिका हॉर्स्ट्मान ऐंड हाइडी पॉवेल (2012)(सं.), *इंडियन सैटायर इन द पीरियड ऑफ़ फ़र्स्ट मॉडर्निटी*, वाइसबाडेन, हरासोवित्ज़ फेरलाग.